पुस्तक-वार्ता

द्वैमासिक समीक्षा पत्रिका

अंक : 26 जनवरी-फरवरी 2010

संपादक

भारत भारद्वाज

सह-संपादक

रामजी यादव

ज्ञान शांति मैत्री

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय का प्रकाशन

पुस्तक-वार्ता

अंक : 26 जनवरी-फरवरी 2010

प्रकाशक
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
पो. मानस मंदिर, *गांधीहिल्स*, वर्धा (महाराष्ट्र) 442001
फोन : 07152-232200, 230906
तार : हिन्दीविश्व

© सम्बन्धित लेखकों द्वारा
पत्रिका में प्रकाशित विचारों से विश्वविद्यालय और संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।
विवाद की स्थिति में न्यायक्षेत्र दिल्ली।

एक अंक : 20 रु.
वार्षिक सदस्यता : 120 रु.
दिल्ली से बाहर के चेक के लिए वार्षिक 145 रु. और द्वैवार्षिक 265/- मनीऑर्डर स्वीकार्य नहीं।
चेक/डॉफ्ट कृपया क्षेत्रीय केंद्र, म.गां.अ.हि.वि., नई दिल्ली के नाम से भेजें।

संपादकीय, बिक्री और वितरण केन्द्र
प्रकाशन विभाग,
क्षेत्रीय केंद्र (दूरस्थ शिक्षा)
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
ई-47/7, ओखला औद्योगिक क्षेत्र, फेज-II, नई दिल्ली-110020
टेली-011-26387365 E-mail : Pustakvarta@indiatimes.com
टेली-011-41613871 मो.-09313034049 *(संपादकीय)*
E-mail : bhardwaj_bharat@yahoo.com

PUSTAK-VARTA
A Bi-monthly journal of Book Reviews in Hindi
Published by Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya,
Post-Manas Mandir, Gandhi Hills, Wardha-442001 (Maharashtra)

छपाई : रुचिका प्रिंटर्स, 10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरख पार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032

आवरण-सज्जा : अशोक सिद्धार्थ

अनुक्रम

मुझे कुछ कहना है		5
मैं और पुस्तकें	: मैं और मेरी हमबिस्तर प्रेमिकाएँ/ **स्वयं प्रकाश**	6
उपन्यास	: दंडद्वीप/ **रमेश उपाध्याय**	
	प्रेम की उदात्तता जानने के लिए यह जरूरी है/ शरद कोकास	8
	: एक गंधर्व का दुःस्वप्न/ **हरीचरन प्रकाश**	
	अनूठे कथा-शिल्प में समकाल पर पैनी आँख/ पुष्पपाल सिंह	10
	: आखेट/ **ज्ञानप्रकाश विवेक**	
	कल्पना और यथार्थ का अद्‌भुत सम्मिश्रण/ वीरेन्द्र सक्सेना	12
कहानी	: छछिया भर छाछ/ **महेश कटारे**	
	परम्परा के खतरे और पुख्तगी/ पवन करण	15
	: पीले काग़ज़ की उजली इबारत/ **कैलाश बनवासी**	
	विसंगतियों की उजली इबारत/ उर्मिला शुक्ल	17
कविता	: एक भाषा हुआ करती है/ **उदय प्रकाश**	
	आदि मध्य और अन्त/ केवल गोस्वामी	20
	: देखते न देखते/ **मलय**	
	टकराहटों में जीता हुआ कवि/ सन्तोष कुमार राय	21
आलोचना	: हिंदी की कालजयी कहानियाँ/ **सं. नंदकिशोर नवल/तरुण कुमार**	
	कालजयी हिंदी कहानियाँ/ निर्मल कुमार चक्रवर्ती	23
	: प्रगतिशील हिंदी आलोचना : विवाद और विमर्श/ **मृत्युंजय सिंह**	
	प्रगतिशील हिंदी आलोचना/ ओम भारती	26
संस्मरण	: यादें/ **हमीदा सालिम**	
	मजाज़ की यादें/ अर्पण कुमार	28
	: दिल्ली शहर दर शहर/ **निर्मला जैन**	
	बेदिल दिल्ली की मुख्तसर तस्वीरें/ सुभाष शर्मा	30
	: दिल्ली टी हाउस/ **सं. बलदेव वंशी**	
	एक बीते और विस्तृत दौर की छवियाँ/ मधुरेश	34
	: हाशिए की इबारतें/ **चन्द्रकान्ता**	
	पारिवारिक सम्बन्धों की आत्ममुग्ध इबारतें/ साधना अग्रवाल	37
समाज	: आजाद हिन्दुस्तान में मुसलमान/ **जाहिद खान**	
	आजाद भारत में आधा गाँव की बेचैनी/ पुनीत कुमार	39

स्मरण	: पानी के बीज/ **मुकुट बिहारी सरोज**	
	मुकुट बिहारी सरोज : शब्दों का योद्धा सेनानी/ महेश कटारे	41
डायरी	: कवि की अंतर्यात्रा/ **विजेंद्र**	
	कवि का गद्य-वैभव/ सुवास कुमार	44
पत्रिका	: **'आलोचना' के नामवर सिंह**/ भारत यायावर	50
विश्लेषण	: मैं बोल पड़ना चाहता हूँ, अपना घर नहीं आया, चुप नहीं है समय, उदास पानी, गांधारी पूछती है, खुशबू उधार ले आए, प्रतीक्षा में पहाड़/ **उपेन्द्र कुमार**	
	उपेन्द्र कुमार की कविता का स्थापत्य/ प्रमोद सिन्हा	58
समय-जुलाहा	: **फिल्म में कविता**/ कुबेर दत्त	61
साहित्य कोलाहल	: **साहित्य कोलाहल**/ प्रज्ञाचक्षु	65
प्रतिध्वनि	: पत्र-प्रतिक्रिया	67

मुझे कुछ कहना है

पत्रिका के इस अंक के संपादकीय के स्थान पर प्रेमचंद द्वारा संपादित और जनवरी-फरवरी 1932 में प्रकाशित 'हंस' के आत्मकथा अंक से जयशंकर प्रसाद की कविता साभार उद्धृत है। 'हंस' शीर्षक प्रसाद का ही दिया हुआ था।

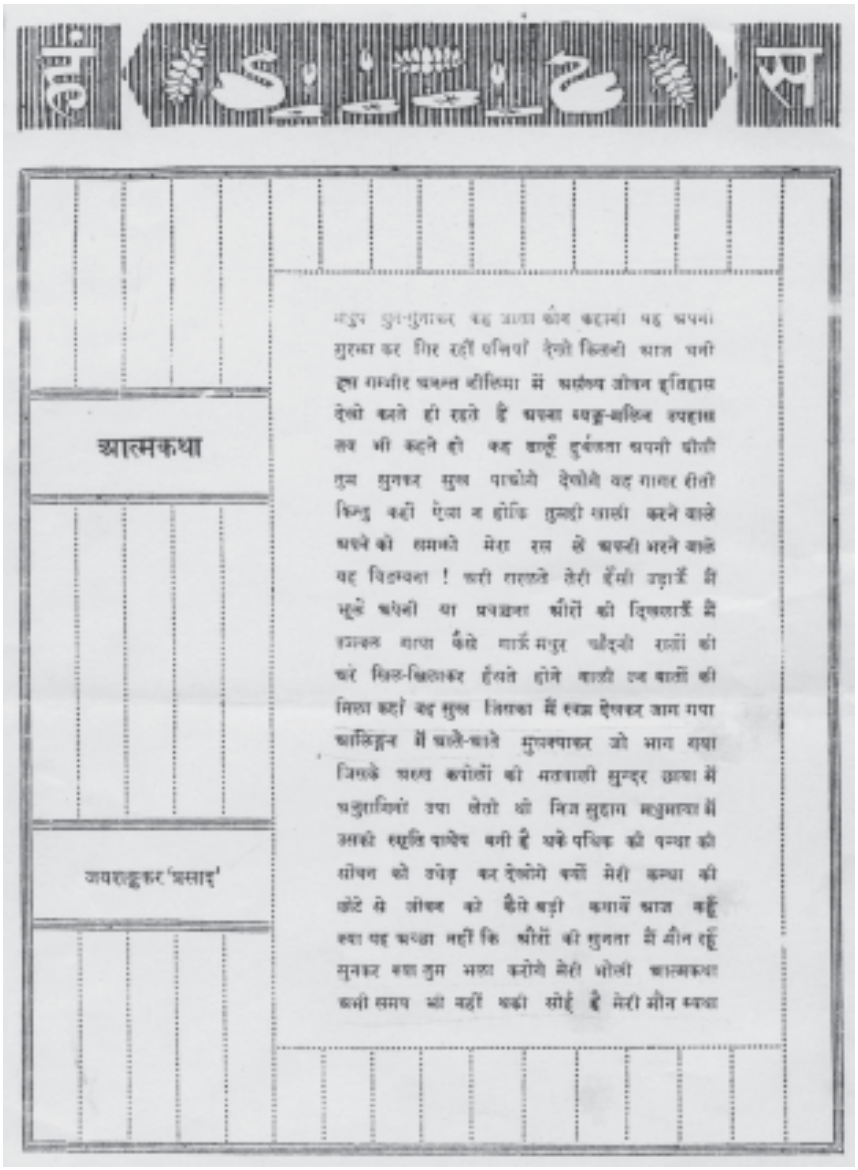

हंस

आत्मकथा

जयशङ्कर 'प्रसाद'

मधुर सुनाकर वह जाता कौन कहानी यह अपनी
सुरझा कर गिर रहीं पंखिएँ देखो कितनी आज घनी
इस गम्भीर अनन्त नीलिमा में असंख्य जीवन इतिहास
देखो कल ही रहते हैं अपना स्वर्ण-बालिका उपहास
तब भी कहते हो कह डालूँ दुर्बलता अपनी बीती
तुम सुनकर सुख पाओगे देखोगे यह गागर रीती
किन्तु कहीं ऐसा न होकि तुम्ही खाली करने वाले
अपने को समझो मेरा रस ले अपनी भरने वाले
यह विडम्बना ! अरी सरलते तेरी हँसी उड़ाऊँ मैं
भूलें अपनी या प्रवञ्चना औरों की दिखलाऊँ मैं
उज्ज्वल गाथा कैसे गाऊँ मधुर चाँदनी रातों की
अरे खिल-खिलाकर हँसते होने वाली उन बातों की
मिला कहाँ वह सुख जिसका मैं स्वप्न देखकर जाग गया
आलिङ्गन में चले-आते मुख को भाग गया
जिसके अरुण कपोलों की मतवाली सुन्दर छाया में
अनुरागिनी उषा लेती थी निज सुहाग मधुमाया में
उसकी स्मृति पाथेय बनी है थके पथिक की पन्था की
सीवन को उधेड़ कर देखोगे क्यों मेरी कन्था की
छोटे से जीवन की कैसे बड़ी कथायें आज कहूँ
क्या यह अच्छा नहीं कि औरों की सुनता मैं मौन रहूँ
सुनकर क्या तुम भला करोगे मेरी भोली आत्मकथा
अभी समय भी नहीं थकी सोई है मेरी मौन व्यथा

पिछले साल के अंत में कादम्बिनी के भूतपूर्व संपादक राजेन्द्र अवस्थी और श्रीमती कुसुम चतुर्वेदी, संपादक मानदंड और प्रपौत्री आचार्य रामचंद्र शुक्ल हमसे विदा हुए। उन्हें हमारी श्रद्धांजलि।

मैं और मेरी हमबिस्तर प्रेमिकाएँ

स्वयं प्रकाश

किशोरावस्था में जिन तीन पुस्तकों ने मुझे सबसे ज्यादा प्रभावित किया वे थीं–गुलीवर्स ट्रेवल्स, अलीबाबा और चालीस चोर और बेताल पच्चीसी।

युवावस्था में जिन तीन पुस्तकों ने मुझे सबसे ज्यादा प्रभावित किया वे थीं बोरिस पोलेवोई की 'असली इन्सान', हावर्ड फास्ट की 'आदिविद्रोही' (अनु. अमृतराय) और निकोलाई ऑस्त्रोवस्की की 'अग्निदीक्षा'।

प्रौढ़ावस्था में जिस पुस्तक ने मुझे सबसे अधिक प्रभावित किया, वह थी–'महाभारत'। आज भी यदि मुझे किसी एक ही पुस्तक को पढ़ने की अनुशंसा करनी हो तो वह पुस्तक 'महाभारत' ही होगी।

इतना कहकर बात खत्म की जा सकती है।

लेकिन इस बीच–खासकर किशोरावस्था और युवावस्था के बीच और भी कई पुस्तकें मेरे जीवन में 'घटित' हो रही थीं। मसलन फ्रॉयड के मनोविज्ञान ने मुझे चौंका दिया। मैंने उनकी अनेक केस हिस्ट्रीज पढ़ीं। इसके बाद मैंने एडलर और जुंग को भी तन्मयता से पढ़ा। यह जिन्दगी को देखने का एक निराला ही कोण था। इन्हीं दिनों डार्विन की एक छोटी-सी किताब मेरे हाथ लग गई। यह सामाजिक विषयों पर लिखे गये निबन्धों का संग्रह था। इनमें एक निबन्ध नास्तिकता पर भी था। क्या किताब थी! काश! उस जमाने में फोटोकॉपी की सुविधा होती और मैं उस निबंध को सुरक्षित रख पाता!

स्वयं प्रकाश

लगभग इसी उम्र में विवेकानन्द साहित्य पढ़ा। लेकिन सिवा 'कर्मयोग' (सम्पूर्ण विवेकानन्द साहित्य, भाग-3) किसी में खास मजा नहीं आया। हाँ, शिकागो से अपने प्रिय शिष्य आलासिंगा को लिखे विवेकानन्द के पत्रों में खूब मजा आया।

गांधीजी की छोटी-सी किताब 'हिंद स्वराज' ने मुझे बहुत प्रभावित किया। खासकर इसलिए भी कि मैंने इस किताब को माइकल शूमाखर की किताब 'स्मॉल इज ब्यूटीफुल' के साथ मिलाकर पढ़ा।

चढ़ती जवानी में डी.एच.लॉरेन्स की 'लेडी चेटर्लीज लवर', नावाकोव की 'लोलिता', नेन्सी फ्रायडे की 'माय सीक्रेट गार्डन' और इन सबसे ज्यादा अल्बर्टो मोरेविया की 'वूमन ऑफ रोम' ने मुझे कई दिन पागल बनाए रखा। दिलचस्प बात यह है कि उन्हीं दिनों मैंने अखबार में अंतरराष्ट्रीय प्रगतिशील लेखक सम्मेलन की एक तस्वीर देखी थी जिसमें अल्बर्टो मोरेविया भाषण दे रहे थे।

फिर पता नहीं कैसे मुझे बर्नार्ड शॉ का चस्का लग गया। उन दिनों पत्र-पत्रिकाओं में बर्नार्ड शॉ और मार्क ट्वेन के मजाक बहुत छपा करते थे। संयोग ऐसा हुआ कि 'पिग्मेलियन' पढ़ी और कुछ रोज बाद ही 'माय फेयर लेडी' देखने को मिल गई। रेक्स हेरीसन और ऑड्रे हेपबर्न ने शॉ की कल्पना को साकार कर दिया। प्रोफेसर हिगिन्स मेरे सपनों में आने लगे। वह आते और किसी की आवाज

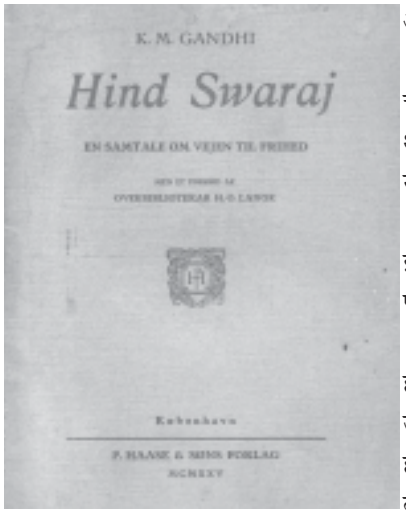

आती, 'इट राइन्स माइनली ऑन द प्लाइन्स ऑफ स्पाइन!' और मैं सोते-सोते हँस पड़ता।

उन दिनों शॉ के पचासियों मजाक मुझे जबानी याद थे और उन्हें मैं दोस्तों के बीच खूब चटखारे लेकर सुनाया करता था। खासकर वह, जिसमें ब्लैकबोर्ड पर 'फिश' लिखकर शॉ पूछते थे कि यह क्या है और फिर खुद ही बताते थे कि यह 'छोटी' है और अन्त में अफसोस के साथ कहते थे कि ये अंग्रेज अपने बच्चों को अंग्रेजी क्यों नहीं सिखाते?

लेकिन मजाकों को और उनके नाटकों को उनके 'डायलॉग्स' ने धराशायी कर दिया। मुझे इसमें भविष्य का एक नया कलारूप दिखाई दिया और मैंने मन ही मन तय किया कि जब मैं परिपक्व हो जाऊँगा तो मैं भी डॉयलॉग लिखूँगा।

इसके तुरन्त बाद मैं मार्क ट्वेन से टकरा गया और उनकी महान प्रतिभा के आगे नतमस्तक हो गया। जब मैं छोटा था। मार्क ट्वेन भाषण देने भारत भी आए थे और लोग टिकट लेकर उनका भाषण सुनने गए थे। तब मैंने सोचा था यह तो बहुत खूब रही। ऐसा तो मुझे भी बड़े होकर करना चाहिए। उन दिनों मेरे शहर इन्दौर में अनेक व्याख्यानमालाएँ होती थीं जिनमें कला-साहित्य-संस्कृति जगत की हस्तियों को बुलाया जाता था और लोग ठठ के ठठ उनका भाषण सुनने जाते थे। यह और बात है कि टिकट नहीं लगते थे। समाजसेवी संस्थाएँ चंदा करके ये आयोजन करती थीं।

मेरा आज भी मानना है कि टॉम सोइयर और हकलबरी फिन जैसे पात्र विश्वसाहित्य में और नहीं हैं। मार्क ट्वेन शिकागो टाइम्स में एक स्तंभ लिखते थे 'एडम्स डायरी' जो खूब लोकप्रिय हुआ। तो उन्होंने उसके अनुवर्तन में 'ईव्स डायरी' भी लिखा। वह और भी ज्यादा लोकप्रिय हुआ। अफसोस इनका आज तक हिंदी में अनुवाद नहीं हुआ है।

जब मैं स्नातक कक्षा में आया तो नियम बना लिया कि परीक्षा के तुरंत बाद पाठ्यक्रम की बदबू दिमाग से निकालने के लिए एक जासूसी उपन्यास जरूर पढ़ूँगा। उस चक्कर में कुछ हिचकॉक, कुछ अगाथा क्रिस्टी कुछ पैरी मैसन भी पढ़ लिए।

पॉपुलर फिक्शन की बात हो रही है तो इरविंग वालेस के उपन्यास 'द मेन' और अलेक्स हेली के उपन्यास 'द रूट्स' का जिक्र भी करना चाहिए। आज अमेरिका में एक अश्वेत राष्ट्रपति है, लेकिन वह कितना अश्वेत रह गया है? ठीक इसी समय मुझे जेम्स बाल्डविन के नाटक 'ब्लूज फॉर मिस्टर चार्ली' की याद आ रही है। यह एक नीग्रो लड़के बारे में है जिसे जबर्दस्ती मुजरिम बना दिया जाता है। यह पुस्तक मैंने अपने मित्र दिनेश मिश्र के निजी पुस्तकालय से पहले माँगकर पढ़ी थी, फिर चुरा ली थी, और आज भी मेरे पास है। पहले सोचा था कि अनुवाद करूँगा, फिर सोचा रूपान्तर करूँगा, फिर सोचा इस पर आधारित नाटक लिखूँगा, लेकिन जब हिंदी के दलित लेखकों ने प्रेमचंद को गाली देना शुरू किया और कहा कि दलित साहित्य सिर्फ दलित लिख सकते हैं तो मैंने सोच लिया कि अब जिन्दगी भर दलितों पर कुछ नहीं लिखूँगा।

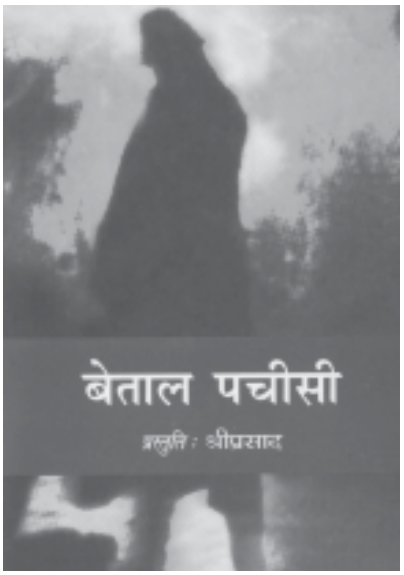

यहीं कुछ और अत्यंत प्रभावशाली पुस्तकों का जिक्र करता चलूँ। ये हैं एल्विन टॉफलर की तीनों पुस्तकें ('फ्यूचर शॉक', 'द पॉवर शिफ्ट' और 'थर्ड वेब') सुसांत गुणतिलक की 'द क्रिपल्ड माइण्ड्स' ('पंगु मस्तिष्क' नाम से जिसके अनुवाद का मुझे सुअवसर मिला), उर्वशी बुटालिया की 'द अदर साइड ऑफ साइलेंस' और पिंकी वीरानी की 'बिटर चॉकलेट'! बाइगॉड! क्या किताबें हैं। मैं अब भी इनका हिंदी में अनुवाद करने को तैयार हूँ, बशर्ते कोई प्रकाशक ढंग का प्रस्ताव दे।

लेकिन जब निश्चय कर लिया कि अपने को लिखना ही है तो अध्ययन को व्यवस्थित और अनुशासित करना जरूरी हो गया।

समकालीन भारतीय साहित्य से परिचित होने के लिए अनेक मोटी-मोटी लेकिन पनीली पुस्तकें पढ़ीं। तारा शंकर बंदोपाध्याय की 'गणदेवता', गोपीनाथ महांती की 'माटी मटाल', 'क.मा. मुंशी की 'जय सोमनाथ', अमृतलाल नागर का 'बूँद और समुद्र', यशपाल का 'झूठा सच' और पन्नालाल पटेल का 'मानव नी भवई'। मैंने हैरान होकर सोचा कि लोग इतना कैसे लिख लेते हैं? और क्यों लिख लेते हैं?

मेरा खयाल है पढ़ने के बारे में हड़बड़ी बिल्कुल नहीं करना चाहिए। ये हौंस कि हम सब कुछ पढ़ लें–फालतू हैं। क्योंकि इस तरह चीजें न याद रहती हैं न असर छोड़ती हैं। पुस्तक को प्रेमिका समझना चाहिए और उससे भी बड़ी शाइस्तगी के साथ पेश आना चाहिए। उसका नशा धीरे-धीरे चढ़ता है। हड़बड़ी में न उसे मजा आएगा न तुम्हें।

आप यह भी देख रहे होंगे कि यह सारा कुछ एकदम सिलसिलेवार नहीं आया है। बात यह है कि किताबों हर जगह मिलती नहीं हैं। मिलतीं भी तो खरीदने की अपनी औकात नहीं। अधिकतर किताबें पुस्तकालयों से इशू कराकर, दोस्तों से माँगकर या इधर-उधर से चुराकर ही पढ़ीं हैं। तो जब जो मिल गई। अफसोस! कि अब तो पुस्तकें कोई चुराता भी नहीं।

3/33, ग्रीन सिटी, ई-8, अरेरा कॉलोनी, भोपाल, मो. 09425018290

प्रेम की उदात्तता जानने के लिए यह जरूरी है

शरद कोकास

पुरातन प्रेम इस देश के मानस में सहज भाव के रूप में शामिल है। हर एक शख्स जिसके पास अनुभूतियाँ हैं, जिसके पास अपने होश सम्भालने की आयु से लेकर वर्तमान तक की स्मृतियाँ सहेजने की क्षमता है, वह अपनी स्मृतियाँ, अपने अनुभव, अपनी चिंताएँ और अपने सुख-दुख बाँटना चाहता है। वैसे भी निजी अनुभव छिपाने की वस्तु नहीं रहे हैं। मनुष्य अपने अप्रिय अनुभवों को भी भाषा के आवरण में इस तरह प्रस्तुत करता रहा है कि वे रोचक लगें। झूठ को सच का बाना पहनाना भी उसे बखूबी आता है और इसके विपरीत कर सकने की पर्याप्त कुशलता भी उसके भीतर है। आधुनिक समाज का गठन अनुभवों के इसी संक्रमण की वजह से सम्भव हुआ है। मनुष्य अपने तमाम तरह के अनुभव अगली पीढ़ियों को सौंपता रहा है और भविष्य का मार्ग प्रशस्त करता रहा है। यद्यपि इसकी वजह से विकास की धारा को बल मिलने के साथ-साथ रूढ़ियाँ और अन्धविश्वास भी पनपते गए लेकिन ऐसा नहीं होता तो हम अपने मस्तिष्क की क्षमता को नहीं पहचान पाते और सभ्यता के आधुनिक समय में प्रवेश नहीं कर पाते।

साहित्य में भी अब अनुभवों की प्रामाणिकता अत्यन्त गैरवाजिब प्रश्न है और पाठक वर्ग का इसके लिए कोई आग्रह भी नहीं है। इसलिए 'दण्डद्वीप' उपन्यास के पुनर्लेखन के बहाने उपन्यासकार रमेश उपाध्याय न केवल अपने चालीस वर्ष पूर्व के अनुभव को दोहरा रहे हैं बल्कि चालीस-पचास वर्ष की आयु पूर्ण कर चुके अनेक पाठकों को अपने अतीत में झाँकने का अवसर भी प्रदान कर रहे हैं। वे पाठक, जिनके अवचेतन में धर्मयुग, सारिका, साप्ताहिक हिंदुस्तान, माधुरी जैसी पत्रिकाओं के प्रकाशन की स्मृतियाँ विद्यमान होंगी, साठ-सत्तर के दशक में जिन्होंने पहला प्रेम किया होगा, उपन्यास के नायक राजू की तरह दिल्ली व मुंबई को झुग्गियों से भरे शहर के अलावा अपने सपनों के स्वर्ग की तरह जाना होगा, जिन्होंने अपने मध्यवर्गीय स्वप्नों को परवान चढ़ते देखा होगा, उन्हें यह उपन्यास नॉस्टेल्ज्या की दुनिया में ले जाएगा और यह उन्हें वर्तमान जीवन में प्राप्त सुख की तरह महसूस होगा।

यह वह दौर था जब आजादी अपनी रजत जयंती के निकट पहुंचने वाली थी और अपनी जड़ों से विस्थापित होकर शहरों में काम की तलाश में आई आबादी का एक बहुत बड़ा हिस्सा उन बस्तियों में रहने को विवश था जिन्हें सम्पन्न लोग 'गन्दी बस्तियाँ' कहते हैं। इन बस्तियों में भी मनुष्य रहते हैं, इस बात की ओर उस युग के साहित्य की दृष्टि थी लेकिन शहरी पृष्ठभूमि पर लिखे गए उपन्यासों में सहज रूप से इनका उल्लेख नहीं होता था। उपन्यासों में बौद्धिक पात्रों का सृजन कर विधा को श्रेष्ठता प्रदान करने के उद्देश्य से अनुभवों को महिमामंडित करने की परम्परा का प्रारम्भ हो चुका था। राजनीतिज्ञों द्वारा यह सपने परोसने का समय था और गुलामी से ऊब चुकी प्रौढ़ पीढ़ी सिनेमा और साहित्य के माध्यम से सुख सहेजने में व्यस्त थी। वहीं युवाओं के लिए यह संघर्ष का समय था।

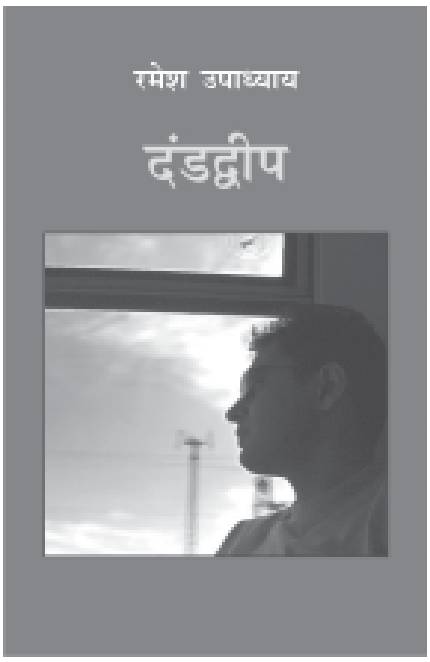

ऐसे आडंबर के समय में युवा उपन्यासकार रमेश उपाध्याय ने विपरीत स्थितियों में जीवन निर्वाह करते हुए उपन्यास 'दण्डद्वीप' की रचना की। गन्दी बस्तियों की जीवनशैली को अत्यंत करीब से देखते हुए अपनी मध्यवर्गीय सोच के साथ उन्होंने नजरिया दिया ''यह पाप है शहर की साफ-सुथरी बस्तियों और शानदार मकानों में रहने वालों का।'' लेकिन घटनाक्रम में वांछित स्थानों के अलावा पूरे उपन्यास में सामाजिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से इसका विश्लेषण अनुपस्थित है। यद्यपि उन दिनों रेणु और अन्य लेखक गाँवों की पृष्ठभूमि पर लिख रहे थे जहाँ गरीब व निचली जातियों के लोग कमोबेश ऐसी ही स्थितियों में जी रहे थे। रोजी-रोटी की जद्दोजहद के साथ अभावों के चलते खेती-किसानी के लिए प्रकृति पर अवलम्बित रहना उनकी विवशता थी। इन वजहों से शहरों की ओर पलायन स्वाभाविक था।

चालीस वर्ष पूर्व की ऐसी ही सामाजिक विसंगतियों के बीच पनपती कुछ प्रेम कथाएँ

इस उपन्यास में हैं। उपन्यासकार का उद्देश्य यहाँ स्पष्ट है इसलिए उस अधिक विस्तृत समाजशास्त्रीय अध्ययन की अपेक्षा भी पाठकों को नहीं करनी चाहिए। रमेश उपाध्याय इसे स्पष्ट करते हैं ''मैं प्रसन्न हूँ कि आज चार दशकों बाद भी यह उपन्यास मुझे पुराना नहीं नया ही लगता है। कारण शायद यह है कि 'दण्डद्वीप' एक प्रेमकथा है और प्रेमकथाएँ कभी पुरानी नहीं पड़तीं।'' उपन्यासकार की इस अभिव्यक्ति का आशय यही है कि इस उपन्यास को विशुद्ध प्रेमकथा के रूप में देखा जाए। वैसे तात्कालिक समाज और उसके सरोकारों का जिक्र उपन्यासकार ने भूमिका में किया है। पुनर्लेख के पीछे की कहानी कहते हुए वे अनुभवों की प्रामाणिकता, आलोचकों के व्यवहार, चीजों को देखने की लेखकीय दृष्टि पर बयान देते हुए युवा लेखकों को टिप्स भी देते हैं। वर्तमान में लिखे जा रहे उपन्यासों के सन्दर्भ में यह विवरण गैरजरूरी लग सकता है लेकिन यहाँ हमें पुनर्प्रकाशन व पुनर्लेखन की बीच के अन्तर को स्पष्ट कर देखना होगा। पुनर्लेखन में स्थितियों के चित्रण, उपन्यास के प्रारम्भ, अन्त तथा पाठकों के चरित्र चित्रण में पाठकों की हिस्सेदारी हो सकती है और जैसा कि उपन्यासकार ने स्वीकार किया है इस दृष्टि से उन्होंने वांछित परिवर्तन भी किए हैं। पुनर्लेखन पर अनेक विवाद भी हो सकते हैं, शायद सम्भावित विवादों को ध्यान में रखकर ही उपन्यासकार द्वारा यह स्पष्टीकरण दिया गया हो।

बहरहाल 'दण्डद्वीप' में नायक राजू और नायिका मनीषा की मूल प्रेमकथा के साथ-साथ तत्कालीन सामाजिक विसंगतियों और रूढ़िवादिता के परिवेश में पनपती कुछ और प्रेमकथाएँ भी हैं। ये प्रेमकथाएँ बिना किसी आवेग के धीरे-धीरे पाठक की संवेदना को झकझोरती हैं, उसका परिचय अपने आसपास के यथार्थ से कराती हैं, रक्त सम्बन्धों और मुँह बोले सम्बन्धों की वास्तविकता प्रकट करती हैं और मनुष्य के सुख-दुख की नई परिभाषा गढ़ती है। लेखक के अपने वक्तव्यों के साथ-साथ मूल कथा के समानांतर चलती है चालीस वर्ष पूर्व के 'लिव-इन-रिलेशनशिप' की कठिनाइयों से भरी मनीषा व अमित की गाथा, जिसे वर्तमान सन्दर्भों में पढ़कर लगता है कि स्त्री-विमर्श के मंचों पर तीखी बहस के बावजूद आज भी कहीं कुछ नहीं बदला है। आज भी इस तरह से रहने वाली स्त्री के लिए 'रखैल' के अतिरिक्त अन्य कोई सम्बोधन नहीं है। कभी-कभी तो लगता है कि मध्यवर्गीय सोच आधुनिकता की ओर अग्रसर होने की बजाय उल्टे पाँव रूढ़ियों की ओर चल रही है। ऐसा परम्पराओं में उसके जकड़े होने की वजह से है। उपन्यासकार ने यहाँ इस मध्यवर्गीय सोच में मनुष्य के स्वार्थ को परिभाषित किया है। इस तरह कि मनीषा और अमित का बगैर विवाह किए साथ रहना उनकी जातीय अस्मिता को ठेस पहुँचाता है लेकिन जब अमित की सम्पन्नता और प्रभाव से अपनी कठिनाई का हल निकालने का अवसर आता है, यह सोच पिघलने लगती है। हालाँकि यह बदलाव क्षणिक होता है लेकिन इससे मनुष्य के स्वार्थ जैसे राग उजागर हो जाते हैं।

उपन्यास का प्रारम्भ रुमानियत से भरी प्रेमकथा के साथ होता है और वयःसन्धि पर एक किशोर के भावुक मन की गुत्थियों को सहजता के साथ प्रस्तुत करता है। युवा होता यह किशोर मन ही मन कई अंतर्कथाएँ बुनता है, दिवास्वप्न देखता है, वास्तविकता से बेखकर रहकर उन स्वप्नों में जीने का प्रयास करता है लेकिन शीघ्र ही वह जीवन की सच्चाइयों से रू-ब-रू होता है। जीवन संघर्ष के चलते रूमानी प्रेम की स्थितियाँ पार्श्व में चली जाती हैं। अपने से उम्र में बड़ी स्त्री के प्रति आकर्षित होकर उससे एक पक्षीय प्रेम प्रदर्शित करने, उसके खयालों में खोये रहने, उसे भावुकता से भरा प्रेमपत्र लिखने और नायिका द्वारा उसे प्रेम और आकर्षण के अंतर को समझाते हुए यथार्थ से अवगत कराने के दृश्य आदर्शवाद की परिधि में न पहुँचते हुए भी पाठक को अनुचित नहीं प्रतीत होते। उपन्यास से गुजरते हुए वह सहज रूप से इन्हें स्वीकारने का मन बना लेता है।

उपन्यास का यह पढ़ा-लिखा युवा नायक अपने भाई के बैंक में गबन के आरोप में नौकरी छूट जाने के फलस्वरूप पारिवारिक जिम्मेदारियों के निर्वाह हेतु ताला-चाबी बनाने के कारखाने में मजदूरी करता है। वह साथी कामगारों के अनपढ़ होने के बावजूद उनसे स्नेह सम्बन्ध स्थापित करता है। लेखक ने यहाँ मनुष्य के इस मूल स्वभाव को कथा में बुनते हुए मजदूरों की बदहाली का अत्यन्त मार्मिक विवरण प्रस्तुत किया है। यहाँ कामगारों के प्रति सहानुभूति का भाव तो है लेकिन स्थितियों के प्रति विद्रोह की मानसिकता कहीं उपजती हुई नहीं दिखाई देती। आत्मोन्नति का अर्थ यहाँ व्यक्तिगत विकास ही है जिसमें सामूहिकता का भाव तिरोहित हो गया है। यद्यपि नायक स्वयं सजग है और खुद को प्रताड़ित किए जाने पर वह विद्रोह भी करता है और बेगारी की नौकरी त्याग देता है। यहाँ निम्न मध्यवर्ग से मध्यवर्ग में माइग्रेशन ही उसका उद्देश्य है और दिल्ली की झुग्गी डेरी किशनचन्द में रहते हुए पीड़ा, अपमान और अभाव से भरे इस दण्डद्वीप से बाहर निकलना ही उसका एकमात्र ध्येय बन जाता है। अपनी होमसिकनेस के साथ वह परिस्थितियों से जूझता है, प्रेम को ऊर्जा का स्रोत मानकर प्रेमिका के नाजुक हाथों में अपना हाथ लिये जाने पर रोमांचित होता है। लेकिन इन सब पर उसका जीवन संघर्ष हावी है। वह कष्ट उठाकर भी बीमारी की स्थिति में काम करता है।

उपन्यास के अन्त को सुखद बनाने के उद्देश्य से यहाँ राजू की समवयस्क प्रेमिका का पदार्पण है। यहाँ उस भद्र और प्रगतिशील समाज का वर्णन भी है जो उन्हें प्रेम के उचित अवसर देता है। घटनाओं का बुद्धिविलास हेतु लम्बे-लम्बे उद्धरण नहीं हैं। न ही पात्रों के मुख से दर्शनशास्त्र का प्रस्फुटन है। बुद्धिजीवी पाठक के अलावा सामान्य पाठक भी स्थितियों के अनावश्यक विस्तार न होने की वजह से अतीत और वर्तमान के सन्दर्भ इसमें ढूँढते हुए इसके निहितार्थ ग्रहण कर सकता है। वर्तमान पीढ़ी की परिचित शब्दावली टी.वी., नेट, मोबाइल, कम्प्यूटर, बिंदास, झकास जैसे शब्द इस उपन्यास में नहीं हैं। उनके लिए यह अविश्वसनीय होगा कि एक शहरी युवक को पन्द्रह वर्ष की उम्र तक भी टेलीफोन पर वार्तालाप का अवसर प्राप्त नहीं हुआ है लेकिन प्रेम की उदात्तता जानने के लिए यह उपन्यास पाठ्यक्रम में शामिल एक पुस्तक की तरह अनिवार्य है।

दंडद्वीप, रमेश भारद्वाज, शब्दसंधान, 107, अक्षरा अपार्टमेंटस, ए-3, पश्चिम विहार, दिल्ली-110063
मूल्य : 250.00 रु.

स्ट्रीट 7 जोन 3, न्यू आदर्श नगर, दुर्ग (छत्तीसगढ़), मो. 094425555160

अनूठे कथा-शिल्प में समकाल पर पैनी आँख

पुष्पपाल सिंह

समकाल की महत्त्वपूर्ण सामाजिक-राजनीतिक घटनाओं का विवेचन उपन्यास का प्रमुख कथ्य रहा है, अनेक उपन्यासकारों ने रामजन्मभूमि विवाद, बाबरी मस्जिद विध्वंस, आपातकाल के भयावह यथार्थ को कथ्य बनाकर समकालीन समय के महत्त्वपूर्ण उपन्यासों की रचना की है। हरीचरन प्रकाश का 'एक गन्धर्व का दुःस्वप्न' इसीलिए विशिष्ट बन पड़ा है कि वह अनेक नई कथा-युक्तियों और भाषा के अपूर्व लालित्य के साथ अपने समय की विकट स्थितियों और समस्याओं से जूझता है। एक प्रशासनिक अधिकारी ने बहुत निकट से सरकारी तंत्र को रामजन्म भूमि विवाद और बाबरी मस्जिद के ध्वंस तथा आपातकाल में व्यवस्था की अव्यवस्था दूर करने के नाम पर शाह-ए-वक्त और उनके युवराज के हाथों-इरादों को कठपुतली बनते देखा है। उपन्यासकार ने लखनऊ-फैजाबाद के निकटस्थ पूर्वांचल के समाज की समाजार्थिक स्थितियों को भी भुक्त-भोगी स्थितियों के रूप में देखा है। इन दोनों धुरियों पर टिके कथानक को भवनाथ के चरित्र के माध्यम से एक-दूसरे में इस प्रकार से संग्रथित किया गया है कि वह बहुत पठनीय और महत्त्वपूर्ण उपन्यास बन जाता है। उपन्यासकार की शोधपरक इतिहास-दृष्टि जिस रूप में सारी स्थितियों में हस्तक्षेप करती है, उससे उसका दृष्टिकोण बहुत स्पष्ट किन्तु अमुखर (अनवोकल) रूप में प्रकट हो अपने पाठक को संस्कारित और अनुकूलित करता चलता है। भवनाथ के रूप में जो 'जीता जागता आदमी उठाकर साहित्य के फ्रेम में फिट कर दिया गया है'' वह अपने 'समय और जीवन' की माया को बहुत सूक्ष्मता और प्रामाणिकता में अभिव्यक्ति दे सका है।

कथा-भूमि के रूप में अपने गृह जनपद फैजाबाद और उसके निकटस्थ 'अयोध्या और फैजाबाद' के चार मील लम्बे फासले पर पड़ने वाला 'टीकापाली' गाँव है। कथा को वर्तमान परिप्रेक्ष्य में प्रक्षेपित करने से पूर्व मन्दिर-मस्जिद विवाद की पृष्ठभूमि को पूर्ण तटस्थता से प्रस्तुत किया गया है कि विवादग्रस्त भूमि की सरकारी रिकॉर्डों में जो इंदराज है, वह वास्तविकता को किस रूप में दर्शाता है। आजादी के आसपास 1946-47 ई. में 'बाबरी मस्जिद में साल डेढ़ साल पहले एक कामचलाऊ मन्दिर खुल चुका था। तमाम किचकिच और किटकिट के बावजूद मस्जिद में मंदिर खुलने का यह पहला वाकया था जबकि इसके पहले मंदिर पर मस्जिद चढ़कर बनती थी। मन्दिर के आस-पास कब्रिस्तान था, उसमें अर्से से कोई शव दफनाया नहीं गया था किन्तु कुछ धर्मोन्मादी तत्त्वों ने इस स्थान को रात-दिन खोद-खोदकर समतल कर उसे 'पवित्र' कर लिया था और अब जब किसी की मय्यत आई तो उन्होंने उसे वहाँ दफनाने नहीं दिया। कांग्रेसी नेताओं ने उस स्थिति पर अपनी तरह से राजनीतिक रोटियाँ सेंकी। मय्यत छोड़कर इश्तियाक बाबू जब म्युनिसिपल रिकॉर्ड की छानबीन करते हैं तो इसे कब्रिस्तान के रूप में दर्ज पाते हैं।' आचार्य जगत प्रसाद कहते थे कि वहाँ सन् 1934 से कोई दफन नहीं हुआ तो अब यह भड़काने वाली कार्रवाई क्यों की जा रही है। 'बाइस घंटों की जद्दोजहद और सड़न के बाद मय्यत को कहीं और कब्र मिल पाई।' इस प्रकार की घटनाओं ने मुसलमानों की चिति (साइके) को ही बदल दिया, अब वे 'भारतवर्ष के मुसलमान थे, हिंदुस्तान के नहीं।' पीछे लौटकर उपन्यास गांधी-वध तक भी जाता है और गांधी जी से सन् 1921 ई. में फैजाबाद आगमन की चलती चर्चा कर बता देता है कि गांधीजी को देखने के लिए कैसा जन-सैलाब उमड़ा था और उन्हें भगवान मान कुर्सी अपने बच्चे का उससे स्पर्श करवा यह आशा पाल बैठे थे कि उनके स्पर्श मात्र से बच्चा जी जाएगा, पूर्ववर्ती संतानों की तरह वह छोटी आयु में मर नहीं जाएगा और गांधी बाबा के प्रसाद-स्वरूप वे उस बच्चे का नाम गांधी प्रसाद वर्मा रखते हैं।

मन्दिर-मस्जिद प्रकरण पर थोड़ा रुककर उपन्यास की कथा आपातकाल पर केन्द्रित होने लगती है 'आधी रात की दस्तक' शीर्षक अध्याय से पूर्व ये शब्द उद्धृत हैं—''26 जून 1975 को सवेरे 7 बजे आन्तरिक आपातकाल की घोषणा पर राष्ट्रपति ने हस्ताक्षर किए लेकिन इमरजेंसी की लीला रात से ही शुरू हो गई थी।'' आपातकाल की जिन घटनाओं-प्रसंगों का कथा में उल्लेख है, वे पाठकों के लिए पूर्व परिचित हैं किन्तु एक प्रशासनिक अधिकारी (उपन्यासकार) ने उन स्थितियों का जो अन्तर्बाह्य देखा है, वह पाठक को उन घटना-प्रसंगों के अन्दर प्रवेश करने की अनुभूति देता है और यही कथा का नयापन है। बिना कारण की गई गिरफ्तारियाँ, उन गिरफ्तारियों पर नाम-मात्र की प्रतिक्रिया, दस-सूत्री, पन्द्रह-सूत्री, बीस-सूत्री कार्यक्रमों की धूम और उसके निष्पादन के लिए सरकारी तन्त्र का उपयोग जिस रूप में हो रहा था, संजय गांधी

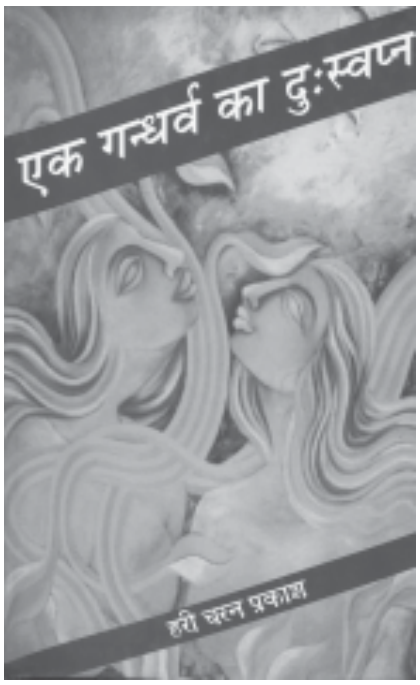

की आंधी जिस रूप में देश में एक छोर से दूसरे छोर तक व्याप रही थी, उसका अनुमान संस्कृति विभाग और जनसम्पर्क विभाग के इस कार्यक्रम से लगाया जा सकता है, ''कार्यक्रम के सूत्र बढ़ते जा रहे थे। 1967 का दस-सूत्री कार्यक्रम, नरेरा में तेरह-सूत्री हुआ। जल्दी ही बीस सूत्री में बदल गया। आज जो युवा नेता आया था वह अपने नए पाँच सूत्र लाया था। लेकिन वह बीस और पाँच दोनों की देखभाल करता था। आज जो कुछ था, उसी की शान में था।'' इन आयोजनों के बाद सर्किट हाउस की दावतों में जो भव्यता और ऐश्वर्य होता था, व्यंग्यात्मक रूप में उसका भी सटीक चित्रण किया गया है। नसबन्दी के लिए जो मारा-मारी होती थी, सरकारी तन्त्र उसे कैसे अंजाम दे रहा था, 'नस की खातिर' अध्याय उसी पर केन्द्रित है। यह वर्णन बहुत सशक्त रूप से तत्कालीन स्थितियों का बयान बनता है, दलित टोले-भंगियों आदि का इस्तेमाल जिस रूप में सवर्ण समाज कर रहा था और उसके प्रति जो विद्रोह सुलग रहा था, उसका बड़ा यथार्थ चित्रण यहाँ हुआ है। 'दूसरी आजादी' शीर्षक अध्याय वी.पी.सिंह की सरकार बनने और उसके गिरने की स्थितियों का चित्रण करता है, उसी क्रम में प्रसंगात-सा वर्णन इन्दिरा गांधी की हत्या और उसके बाद पूरे देश में भड़के सिख विरोधी दंगों का आया है। उपन्यास 'ताला-चाभी' अध्याय में पुनः मंदिर-मस्जिद विवाद की स्थितियों से जूझता हुआ उपन्यासकार तत्कालीन घटनाक्रम पर अपनी तीखी नजर दौड़ाता है—अध्याय से पूर्व मुख-बंध के रूप में 'महात्मा गांधी के एक ही लेख के तीन हिस्से' के अन्तर्गत उनके तीन कथन उद्धृत हैं जो राम, रामत्व और धर्म की मर्यादा बाँधते हैं। जिस रूप में और जिस योजना के तहत उग्र हिंदूवादी नेतृत्व ने मस्जिद को तोड़ा, उसका बहुत विवेकपूर्ण चित्रण उपन्यासकार ने प्रस्तुत किया है। और, फिर उसी कथा-युक्ति के प्रयोग से 'लहरों के उत्पात' शीर्षक अध्याय से पूर्व मुख-बंध के रूप में 'सत्यार्थ प्रकाश : एकादश मुल्लास', 'सत्यार्थ प्रकाश : चतुर्थदर्श मुल्लास' की उद्धृति कर लेखक यह दर्शाता है कि किस प्रकार हमारे सुमान्य ग्रन्थों ने भी धर्म की विकृति में योग दिया है। राजीव गांधी हत्याकाण्ड (घाट का जलसा) तक की घटनाओं को अपनी कथा-सीमा में समेटता उपन्यास 'जेल में जयंती' शीर्षक अध्याय में और उससे पूर्व उसके मुख-बंध में शहीद राम प्रसाद बिस्मिल और शहीद अशफाक उल्ला खाँ के फाँसी से पूर्व के आत्म कथन देता हुआ, भातीय समाज में साम्प्रदायिक सौहार्द के लिए उठाए गए पगों पर रेखांकन करता है। 1855 में अवध के अन्तिम नवाब ने अयोध्या में हिंदुओं की पूजा-स्थली हनुमान गढ़ी को किस प्रकार धार्मिक उन्माद से बचाया था को चित्रित करता हुआ लेखक देश में फैले इस साम्प्रदायिक मतवाद और मनोवृत्ति पर कठोर प्रहार करता है कि सारी समस्याओं के मूल में इस्लाम और मुसलमान हैं। उपन्यास मंदिर-मस्जिद प्रकरण-विवाद पर बहुत संयत और सुलझी दृष्टि प्रस्तुत करता है।

इस उपन्यास का बहुत सबल पक्ष इसकी अर्थ-लाघव वाली सशक्त भाषा-शैली है जो पूरे उपन्यास में अपनी सामर्थ्य और समृद्धि का बोध कराती है। भवनाथ के व्यक्तिगत जीवन और उसके देश-समाज के चित्रण में उपन्यासकार की भषा का लालित्य, अर्थ-क्षमता, उसकी प्रभावान्विति, नूतन उपमानों और बिम्बों की शक्ति आदि देखते ही बनती है। संस्कृत-बहुला, तत्सम शब्दावली परिपूर्ण भाषा के लिए 'सचेतन हिंदी', 'भवनाथ वार्ताविमुख हो गए', 'उपपत्नी उपविधवा नहीं हो सकता। वंश और सम्पत्ति के सतवंती सिलसिले के कुल देवताओं ने ऐसा त्रास दिया', 'बिट्टन भाभी की देह में आखिरी लकीरों तक उफना हुआ स्वस्थ कुँआरापन', 'आसेतुहिमाचल आदमी और कुत्ते एक साथ उठकर आज भर की जिन्दगी जीने के उपक्रम में लग गए', आदि प्रयोगों में लेखक के भाषाधिकार का परिचय मिलता है। रति-प्रसंगों में अपने इस भाषा के लाघव से लेखक ने प्रसंग को पूर्ण कायिक होने के अश्लीलत्व से बचाकर गरिमामय ढंग से 'सब कुछ' कहने योग्य बनाया है। जिस लालित्यमयी शैली में भवनाथ के विवाह, विवाह के बाद के अनेक प्रसंगों, संयुक्त परिवार की अनेकशः समस्याओं के चित्रण के लिए प्रयुक्त किया गया है, उसने लोक-जीवन के चित्रण को बहुत रसपूर्ण बना दिया है। वस्तुतः कथ्य और शैली दोनों दृष्टियों से हरीचरन प्रकाश का 'एक गंधर्व का दुःस्वप्न' समकालीन उपन्यास में अपना विशिष्ट स्थान बनाता है।

एक गंधर्व का दुःस्वप्न (उपन्यास) हरीचरन प्रकाश, प्रकाशक राजकमल प्रकाशन, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-110002, मूल्य 225 रुपये

63, केसरबाग, पटियाला-147001

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय की प्रकाशन योजना के अंतर्गत प्रकाशन

1. **The First Published anthology of Hindi Poets**, Imre Bangha, रेनबो प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 225/-
2. **द्विजदेव ग्रंथावली**, आ. विद्यानिवास मिश्र, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 200/-
3. **स्वच्छंद**, अशोक वाजपेयी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 175/-
4. **अंधेरे में** (द्विभाषिक), डॉ. कृष्ण बलदेव वैद, रेनबो प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 150/-
5. **कविता का शुक्लपक्ष**, बच्चन सिंह, अवधेश प्रधान, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 325/-
6. **राकेश समग्र**, डॉ. नंदकिशोर नवल, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 395/-
7. **जीवन के बीचोंबीच**, अशोक वाजपेयी/ रेनाता चेकाल्स्का, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 350/-
8. **पंत सहचर**, अशोक वाजपेयी, अपूर्वानंद, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 395/-
9. **छंद-छंद पर कुमकुम**, डॉ. वागीश शुक्ल, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 375/-
10. **कविता नदी**, प्रयाग शुक्ल, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 400/-
11. **अंतर्लोक** (अध्यात्म सम्बन्धी कविताएँ), प्रो. नंदकिशोर आचार्य, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 250/-
12. **अंतःकरण का आयतन**, अशोक वाजपेयी, रेनाता चेकाल्स्का, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 395/-
13. **रघुवीर सहाय : रचनाओं के बहाने एक संस्मरण**, मनोहरश्याम जोशी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 150/-
14. **स्मृति, मति और प्रज्ञा** : धर्मपाल से उदयन वाजपेयी की बातचीत, उदयन वाजपेयी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 125/-
15. **हिंदी प्रयोग : एक शैक्षिक व्याकरण**, डॉ. पी.सी. जैन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 350/-

कल्पना और यथार्थ का अद्भुत सम्मिश्रण

वीरेन्द्र सक्सेना

'आखेट' के आवरण-पृष्ठ पर उसके लेखक ज्ञानप्रकाश विवेक के 'जीवन-परिचय' में यह जानकारी दी गई है कि उन्होंने एक 'बीमा-कम्पनी' में कार्यरत रहते स्वैच्छिक सेवानिवृत्त ली है। इसी टिप्पणी में यह जानकारी भी दी गई है कि यह उपन्यास अंबाला छावनी की किसी बीमा-कम्पनी के स्थानीय कार्यालय के भ्रष्टाचार से संबंधित है। उसमें स्पष्ट बताया गया है–'कार्यालय के शिखर पुरुष कायर और भ्रष्ट हैं। वे खुद को बचाने तथा दूसरों को गिराने का खेल खेलते रहते हैं–किसी आखेट की तरह।' (बल्र्ब)

बल्र्ब पर उपलब्ध जानकारी को पढ़ने के बाद किसी साधारण पाठक की तरह मेरे मन में भी यह जिज्ञासा हुई कि उपन्यास को पूरा पढ़कर देखा जाए और जाना जाए कि किसी बीमा-कम्पनी में (भी) भ्रष्टाचार किस सीमा तक घुस चुका है और क्या उसका मुकाबला करके उसे दूर किया जा सकता है? जिज्ञासा इस कारण और ज्यादा हुई, क्योंकि मुझे लगा कि इस उपन्यास में ज्ञानप्रकाश विवेक के अपने 'भोगे हुए यथार्थ' के अनुभव भी होंगे, इसलिए उसके विवरण वास्तविक ज्यादा होंगे, काल्पनिक कम। और मुझे यह स्वीकार करने में तनिक भी संकोच नहीं है कि ज्ञानप्रकाश विवेक किसी बीमा-कम्पनी के अम्बाला छावनी स्थित शाखा-कार्यालय की भ्रष्ट व्यवस्था को बेनकाब करने में पूरी तरह सफल हुए हैं।

उन्होंने उस कम्पनी के कार्यालय में व्याप्त भ्रष्टाचार के परत-दर-परत प्रमाण जुटाए हैं और सम्बन्धित शीर्ष अधिकारियों तथा पिछलग्गू कर्मचारियों के आचार-व्यवहार से उनकी पुष्टि भी की है। उदाहरणार्थ यह अंश द्रष्टव्य है–''प्रामिनेंट इंश्योरेंस कम्पनी ऐसा लोकप्रिय नाम है, जो सबकी जुबान पर चढ़ चुका है।...प्रामिनेंट का अच्छा बिजनेस है। बिजनेस उसकी 'साख' की बदौलत बढ़ता चला गया है। साख शब्द भ्रामक है। शब्दों के बाजीगर, इंश्योरेंस में साख पैदा करते हैं। ग्राहक को सन्तुष्ट करना एक बात है, सम्मोहित करना अन्य बात। यहाँ सम्मोहन पैदा किया जाता है। बाजार में बने रहने के लिए ज्यादा कमीशन दिया जाता है। उस इंश्योरेंस को भी 'कवर' कर लिया जाता है, जिसमें क्लेम की आशंका सबसे अधिक होती है।'' (पृ. 60-61)

इसी क्रम में यह अंश भी ध्यातव्य

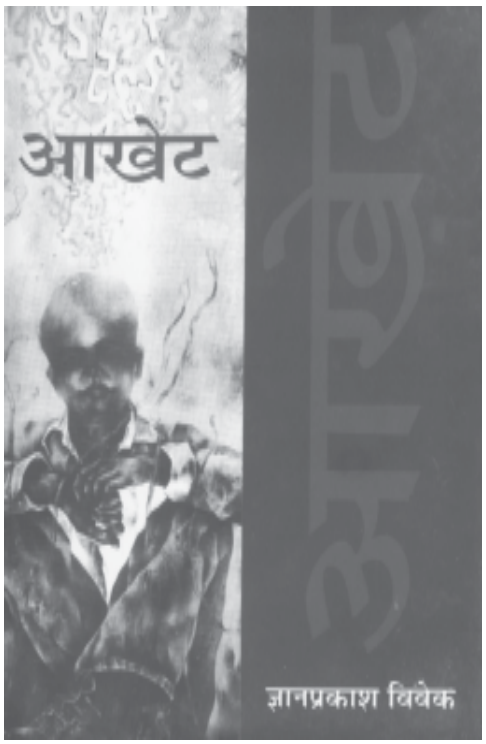

है, जिसमें लेखक ने इस स्थिति को–''संशय और बदला लेने की भावना सबके अन्दर है। अपने आपको बचाने के लिए कोई किसी को भी फंसा सकता है। युद्धनीति भी यही होती है। एक सिपाही दूसरे सिपाही को मार देता है। वरना वह खुद मारा जाता है। अपने आपको बचाने के लिए किसी को भी बलि पर चढ़ाया जा सकता है।'' (पृ. 102) इसी सन्दर्भ में एक वरिष्ठ अधिकारी प्रेमसिंह से सम्बन्धित यह टिप्पणी भी द्रष्टव्य है–''प्रामिनेंट इंश्योरेंस कम्पनी ऐसा हम्माम है, जिसमें सब नंगे हैं। प्रेमसिंह भी कौन-सा पाक-साफ है? शहर की तीन वर्कशाप से उसको हर महीने कुछ कमीशन मिल जाता है। सर्वेयर, वर्कशाप और प्रेमसिंह के बीच ठीक-ठीक तालमेल है।...'' (पृ. 107-108) लेकिन इसी प्रेमसिंह की कारगुजारियों के बारे में जब रीजनल मैनेजर मिस्टर आनन्द को पता चल जाता है, तो वे उसके खिलाफ कोई कार्रवाई नहीं करते। वे स्वयं भी भ्रष्टाचार में आकण्ठ डूबे हुए हैं, इसलिए प्रेमसिंह को केवल पीड़ा पहुँचाते हैं और स्वयं परपीड़न-सुख भोगते रहते हैं–''मिस्टर आनन्द, प्रेमसिंह को 'वेंटीलेटर' पर रखना चाहते थे। उन्होंने ऐसा किया भी। दबंग प्रेमसिंह को उन्होंने कभी मेंढक तो कभी काकरोच के रूप में देखा..। यह 'देखना' परमसुख था।...'' (पृ. 108-109)

प्रामिनेंट इंश्योरेंस कम्पनी में नरेश कुमार, महेश कुमार और सुरेश कुमार नाम के तीन ऑफिस सुपरिटेंडेंट भी हैं। ये तीनों भी अपने-अपने ढंग से अपने से निचले स्तर के कर्मचारियों को प्रताड़ित करते रहते हैं। उदाहरणार्थ एक बार इन तीनों ने मिलकर रामलाल गुलाटीनाम के एक स्टेनोग्राफर का

टाइपराइटर गायब करा दिया और उसी पर उसकी चोरी का आरोप लगाकर पुलिस के लॉकअप में भिजवा दिया। इसके बाद 'रामलाल गुलाटी जब लॉकअप से बाहर निकला, तो ऐसा नहीं लगता था कि वो आदमी है। वो किसी खण्डहर जैसा लगता था।...उसके पास न मुकम्मल आवाज बची थी, न रीढ़ की हड्डी।' (पृ. 69) सम्भवतः इसी घटना के बाद ये तीनों कुमार 'डर्टी थ्री' के रूप में कुख्यात हो गए थे, लेकिन लोगों के सामने 'जेंटलमैन' ही बने रहते थे। प्रसंगवश, यहाँ एक अन्य घटना का उल्लेख भी जरूरी है, जिसमें महेश कुमार द्वारा राज भसीन नाम के एक कर्मचारी की पत्नी को अपने जाल में फँसाने की जानकारी दी गई है और उसके दुष्प्रभाव का भी चित्रण किया गया है–''कुछ साल तक ठीक-ठाक चलता रहा। लेकिन बाद में राज भसीन का घर 'साल्वेज' में बदल गया। सरिता भसीन (पत्नी) पछतावे की आग में जलने लगी–हमेशा द्वंद्वग्रस्त। एक दिन उसने शीशे को तोड़ डाला, तो एक दिन उसने अपने कई सूट कैंची से काट दिए। राज भसीन (पति) पढ़ाकू और जीनियस...सरल और सीधा राज भसीन इतना चुप रहने लगा कि आवाज ही खो गई।'' (पृ. 72)

उक्त सभी उद्धरणों से स्वतः स्पष्ट है कि प्रामिनेंट इंश्योरेंस कम्पनी के सभी बड़े अधिकारी तथा शक्ति सम्पन्न अधीक्षक निचले स्तर के कर्मचारियों का सामंती ढंग से शोषण करते रहते हैं। और जब भी मौका मिलता है जनहित के कामों में रुचि लेने के बजाय स्वार्थसिद्धि करते हैं। ऐसे कष्टप्रद एवं मारक वातावरण में चेतन नाम का एक युवा टाइपिस्ट (क्लर्क) किस तरह अपनी नौकरी निभा पाता होगा, इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

चेतन की बात आ गई है, तो यहीं यह भी बता दूँ कि चेतन ही 'आखेट' (उपन्यास) का नायक भी है, यानी यही वह युवक है, जो नौकरी की तलाश में है, क्योंकि वह बी.ए. कर चुका है और उस पर एक निम्नमध्यवर्गीय परिवार का बड़ा बेटा होने का बोझ भी है–''पिता रेलवे में थे। तनख्वाह कम। परिवार बड़ा। वर्तमान मुश्किल। भविष्य खौफ पैदा करने वाला।...तीनों बहनें जल्दी-जल्दी जवान हो रही थीं। ऐसा लगता था, वे तीनों अपराधिनें हैं।'' (पृ. 8) तो ऐसे अभावग्रस्त चेतन को संयोगवश ही सही, दिल्ली में कार्यरत एक अधिकारी की कृपा से अम्बाला छावनी की प्रामिनेंट इंश्योरेंस कम्पनी में टाइपिस्ट के पद के लिए नियुक्ति-पत्र मिल जाता है और उसे वहाँ जाना पड़ जाता है। इसके बाद 'आखेट' का पूरा कथ्य अम्बाला छावनी में ही केन्द्रित हो जाता है, जिसकी प्रामिनेंट इंश्योरेंस कम्पनी के कतिपय ब्यौरे ऊपर बताए जा चुके हैं।

दिल्ली में कार्यरत एक अधिकारी के. डी.के. यानी केसरदास खत्री की कृपा से चेतन को अम्बाला छावनी में कार्य करने का नियुक्ति-पत्र तो मिल गया, किन्तु वहाँ जाकर रहने या ठहरने की भी विकट समस्या थी। इस समस्या के समाधान के लिए चेतन के पिता ने जो उपाय सुझाया, वह भी पर्याप्त रोचक हैं।

यह उपाय एक चिट्ठी के रूप में है, जो चेतन के पिता ने अपने एक पुराने पड़ोसी (देश-विभाजन से पहले के) टंडन साहब के नाम थी। टंडन साहब अम्बाला कैंट के पी.एम.जी. ऑफिस में किसी ऊँचे ओहदे पर थे। वे पेरिज़ होटल में रहते थे, जो वास्तव में कई काटेज वाला परिसर था। बहरहाल, जब चेतन अपने पिता की चिट्ठी और सामान के साथ टंडन साहब की काटेज में पहुँचा, तो टंडन साहब तो आउट ऑफ स्टेशन थे और उनके परिवार वालों ने उसकी उपेक्षा की। लेकिन तभी टंडन साहब की बेटी के मन में उसके प्रति कुछ सहानुभूति उत्पन्न हो गई और उसने चेतन के ठहरने या रहने की व्यवस्था पास के एक खाली पड़े काटेज में करा दी। बाद में कुछ ही दिनों में टंडन साहब की बेटी, जिसका नाम विद्या था, चेतन के कुछ निकट आ गई और चेतन में मन में उसके प्रति प्रेम के अंकुर फूटने लगे, क्योंकि विद्या भी उसके प्रति सह-अनुभूति से भर उठी थी। उदाहरणार्थ प्रस्तत है यह प्रसंग–''अचानक बिजली चली गई। एक पल के लिए मैं सिहर उठा।...अँधेरे में मैं था, अँधेरे में वह थी। वह इतनी आकर्षक थी कि सम्मोहित करती थी। वहीं...अकेले अँधेरे कमरे में...मुझसे कुछ दूर...। इतनी कम दूर कि मैं एक कदम बढ़ाऊँ, तो उस तक पहुँच सकता हूँ। उसे अपनी बाँहों में समा सकता हूँ और उसे चूम सकता हूँ।'' (पृ. 59)

कुछ दिनों बाद चेतन को वह खाली पड़ी काटेज भी छोड़नी पड़ जाती है और उसे अपने रहने का प्रबन्ध एक सहकर्मी रजत के साथ करना पड़ता है। उस समय, जब चेतन अपना सामान लेने विद्या के पास जाता है, तो जो दृश्य उभरता है, उसका चित्रण भी द्रष्टव्य है–''मैंने अपना सारा सामान उठा लिया है। कंधे पर बैग लटका लिया है–एक हाथ में सूटकेस, दूसरे हाथ में बिस्तरबंद! फिर भी लगता है कुछ रह गया है। 'जो रह गया है चेतन, वो आपको दिखाई नहीं देगा', विद्या टंडन कह रही है।'' (पृ. 12)

उसके बाद चेतन लगभग 7 वर्षों तक अम्बाला छावनी की उस 'प्रामिनेंट इंश्योरेंस कम्पनी' में सेवारत रहा, जिनमें 5 वर्ष उसने रजत के साथ रहते हुए ही गुजारे। रजत के साथ रहते हुए उसने काफी मौज-मस्ती भी की और अपने कार्यालय में बड़े-बड़े भ्रष्ट अधिकारियों का मुकाबला करना भी सीखा। इस मुकाबले में उसे कर्मचारी-संघ के सचिव लाल साहब का सहयोग भी मिला और तब उसके मन में मुकाबला करने के लिए नित नए उत्साह का संचार होने लगा। इसी तरह मुकाबला करते हुए चेतन ने 31 दिसम्बर की उस शाम के जश्न में अपने से बड़े अधिकारियों के सामने वह सब कह डाला, जो शायद उसे नहीं कहना चाहिए था। उसने स्पष्ट कहा–''यहाँ कुछ लोग, मनुष्यों जैसे लगते है।...लेकिन वो हैं नहीं। वो कुछ और हैं।...मेरी उनसे गुजारिश है, वो स्वयं को बन्द कमरों जैसा न बनाएँ। बन्द कमरों की तहजीब आखिरकार दिमागों की खिड़कियाँ बन्द कर देती हैं और यहीं से शंकाओं का जन्म होता है।'' (पृ. 156)

इसके बाद जो कुछ घटा वह तनिक भी अप्रत्याशित नहीं था। रीजनल मैनेजर मिस्टर आनन्द ने बड़े ही नाटकीय ढंग से महेश कुमार से त्यागपत्र लिखवा लिया और इस तरह तीनों कुमारों के डर्टी ट्रेंगल का एक कोना तोड़ दिया। इसी तरह अपने विरोधी प्रेमसिंह से भी त्यागपत्र प्राप्त कर लिया और फिर उसे नौकरी से निकाल

दिया। इसी के साथ चेतन को चेतावनी दे डाली और उसका ट्रांसफर अम्बाला से दिल्ली कर दिया और यहीं पर इस पूरे 'आखेट' (उपन्यास) का समापन भी हो गया। (पृ. 168)

उपन्यास में बीच-बीच में कई अन्य रोचक प्रसंग भी हैं और उन्हें भी ज्ञान प्रकाश विवेक ने काफी डूबकर गहराई से लिखा है। उन सबका ब्यौरा देना यहाँ जरूरी नहीं है, पर मैं यह अवश्य बताना चाहूँगा कि आरम्भिक सहानुभूति और सह-अनुभूति के कई वर्षों बाद जब चेतन की भेंट 31 दिसम्बर के उस कार्यक्रम में विद्या टंडन से भी हुई, तो वह काफी बदल चुकी थी। तब उसके साथ वहाँ उसका मंगेतर शेखर भी आया हुआ था। वहाँ विद्या टंडन ने चेतन से शेखर का औपचारिक परिचय भी कराया, लेकिन उसके बाद वे दोनों उससे कुछ दूर जा बैठे–''हाथ में हाथ डाले हुए। जैसे यह संगीतभरी शाम उन दोनों के लिए हो–रोमांचकारी...प्रेम से लबरेज शाम!'' (पृ. 151)

अन्त में, मैं इस उपन्यास की कुछ कमियों की ओर भी संकेत करना चाहूँगा, जो अगर न होतीं, तो यह उपन्यास और ज्यादा पठनीय एवं प्रभावी बन सकता था। इसमें पहली कमी तो यही है कि इसमें संयोगों की भरमार है। इसमें पहला संयोग तो यही है कि चेतन नामक बेरोजगार युवक को दिल्ली में एक सामर्थ्यवान अधिकारी केसरदास खत्री मिल जाता है और वह उस पर कृपा करके टाइपिंग में फेल हो जाने पर भी टाइपिस्ट के पद के लिए नियुक्ति-पत्र दे देता है। इसी पत्र को लेकर जब वह अपनी नौकरी का कार्यभार सँभालने अम्बाला छावनी जाता है, तो वहाँ एक दूसरा संयोग जुड़ जाता है और उसकी भेंट विद्या टंडन नाम की लड़की से हो जाती है और वह कुछ ही दिनों में सम्पर्क में उसके प्रेम में पड़ जाता है। तीसरा संयोग यह है कि प्रामिनेंट इंश्योरेंस कम्पनी के जिस कार्यालय में उसे कार्यभार सम्भालना है, वहाँ तीनों 'डर्टी थ्री' कुमार उसका विरोध करने लगते हैं, पर तभी एक अन्य अधिकारी प्रेमसिंह उसकी मदद को आ जाता है, यद्यपि वह भी उन तीनों 'डर्टी थ्री' की तरह एक भ्रष्ट अधिकारी ही था। फिर चौथा संयोग यह है कि एक ही शहर में रहते हुए भी चेतन विद्या टंडन से कहीं भी नहीं मिल पाता और जब कई वर्षों बाद मिलने का संयोग बनता है, तब वह अपने लिए एक मंगेतर खोज चुकी होती है।

उपन्यास की दूसरी कमी यह है कि इसमें कथावस्तु के तारतम्य का अभाव है। वरना क्या कारण है कि अम्बाला कैंट में अपने कार्यालय में हर तरह से परेशान और पीड़ित एक युवक न तो अपने परिवार से सम्पर्क करता है (उसका परिवार हरियाणा के एक कस्बे प्रतापगढ़ में ही है) और न ही दिल्ली के ब्रांच मैनेजर केसरदास खत्री से कोई शिकायत करता है (जबकि उन्होंने ही उसे अम्बाला कैंट का नियुक्ति-पत्र दिया था!)

और उपन्यास की तीसरी सबसे बड़ी कमी यह रह गई है कि उसमें कथावस्तु का आरम्भ उत्तम पुरुष (मैं-शैली) में किया गया है, किन्तु अम्बाला छावनी और प्रामिनेंट इंश्योरेंट कम्पनी के सारे विवरण अन्य पुरुष (वह-शैली) में समाहित हैं। यह एक तरह का विरोधाभास ही है, क्योंकि कई अंतरंग प्रसंग जैसे कि राम भसीन की पत्नी सरिता भसीन तथा महेश कुमार के बीच का अंतरंग प्रसंग इस तरह वर्णित है, मानो चेतन ने उसे स्वयं देखा हो या किसी से उस प्रसंग का आँखों देखा हाल सुना हो (जबकि उपन्यास में कहीं भी यह संकेत नहीं है कि चेतन स्वयं वहाँ मौजूद था या कोई अन्य व्यक्ति मौजूद था और उसने चेतन को वह सब बताया था।)

समग्रतः मैं यही कहना चाहता हूँ कि 'आखेट' (उपन्यास) कल्पना और यथार्थ का अद्‌भुत सम्मिश्रण है। लेकिन यही 'सम्मिश्रण' यदि और भी बेहतर रचनात्मक ढंग से सामने आ पाता तो 'आखेट' कुछ और ज्यादा रोचक एवं विचारोत्तेजक हो जाता।

आखेट, ज्ञानप्रकाश विवेक, भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003
मूल्य : 100 रुपये।

6118/4, पॉकेट डी-6, वसंतकुंज, दिल्ली-110070,
फो. 011-26890190, 26125049,
मो. 0-9811387649

महात्मा गांधी अन्तरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय की पत्रिकाएँ

पुस्तक-वार्ता
संपादक : भारत भारद्वाज
मूल्य : 20/- प्रति अंक

हिंदी
संपादक : ममता कालिया
मूल्य : 100/- प्रति अंक

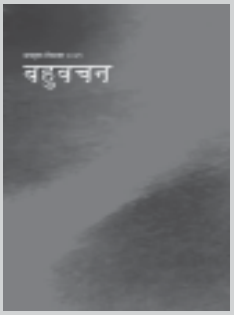

बहुवचन
संपादक : राजेन्द्र कुमार
मूल्य : 50/- प्रति अंक

पत्रिकाएँ मँगवाने के लिए सम्पर्क करें :
प्रकाशन विभाग, क्षेत्रीय केंद्र,
महात्मा गांधी अन्तरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
ई-47/7, ओखला औद्योगिक क्षेत्र,
फेज-II, नई दिल्ली-110020
फोन : 011-26387365

परम्परा के खतरे और पुख्तगी

पवन करण

लगभग तीस बरसों से कहानियाँ लिख रहे महेश कटारे इन दिनों अपने नए कहानी संग्रह 'छछिया भर छाछ' पर हुई चर्चा तथा हाल ही में मिले 'कथाक्रम' सम्मान की वजह से चर्चा में हैं। इससे पहले महेश कटारे लगातार उल्लेखनीय कहानियाँ तो लिख रहे थे किन्तु उनकी कहानियों का हिंदी कहानी में उतना उल्लेख नहीं हो रहा था अथवा हुआ भी था तो जिसके वे हकदार रहे हैं या थे उनको उनका प्राप्य नहीं मिला। जबकि उनके कई समकालीन कहानीकार तो मात्र अपनी एक कहानी की वजह से प्रारम्भ में ही इतनी चर्चा पा गए कि उनकी कहानियाँ उस चर्चा के बोझ से दबकर रह गईं। प्रश्न यह उठता है कि क्या हिंदी कहानी भी कविता की तरह अपनी उत्कृष्टता की जगह चर्चा की मोहताज है? यह सवाल कुछ-कुछ तो ठीक लगता है कि कोई बड़ा आलोचक जब तक किसी रचना पर नहीं बोलेगा, एक अच्छा कहानीकार पाठकों की नजर से ओझल हो जाएगा या फिर उसे मुख्यधारा का रचनाकार नहीं माना जाएगा?

यहाँ मैं यह स्पष्ट कर दूँ कि मेरा इरादा महेश कटारे को बड़ा रचनाकार अथवा उनकी कहानियों को सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ कहने का नहीं है किन्तु उनकी कहानियों को मैं उल्लेखनीय और विशेष अवश्य मानता हूँ और मात्र उनकी कहानियों को, महेश कटारे की वेशभूषा के आधार पर प्रेमचंद की परम्परा की कहानी कह देना अथवा उनकी प्रेमचंद से तुलना करना मैं महेश कटारे की कहानियों के साथ अन्याय मानता हूँ। शायद आलोचना की यह सबसे सरल, सस्ती और त्वरित कार्यवाही है कि वह सुनी-सुनाई धारणा के आधार पर किसी रूप को बिना तैयारी के अपनी उपस्थिति का जामा पहना दे। महेश कटारे को प्रेमचंद की परम्परा का वाहक कहा जाना मैं लम्बे अरसे से सुनता आ रहा हूँ। दरअसल जीवन और साहित्य में परम्परा पर लीक-लीक कायर चले लीकै चले कपूत जैसा उदाहरण हमारे सामने है और छायावाद महत्त्वपूर्ण होने के बाद भी परम्परा की सान पर कसा जाता रहा है। यहाँ यह कहना ज्यादती नहीं होगी कि महेश कटारे जीवन में अपनी कहानियों के सबसे बड़े पात्र तो स्वयं हैं कहीं प्रत्यक्ष तो कहीं अप्रत्यक्ष कहीं सूत्रधार तो कहीं श्रोता। 'छछिया भर छाछ' उसका बेहतर

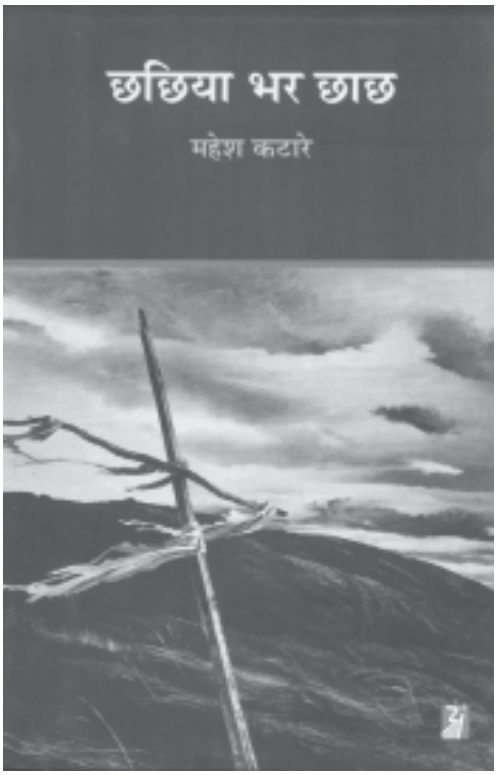

उदाहरण है लेकिन छछिया भर छाछ ज्यादा चर्चा में भले हो मैं उनके इस संग्रह को उनका बेहतरीन कहानी संग्रह नहीं मानता जितने बेहतर 'समर शेष है', मुर्दा स्थगित अथवा 'अथ कथा-इतिहास'। उसका सबसे पहला और मोटा कारण जो दिखाई देता है वो यह कि महेश कटारे 'छछिया भर छाछ' में डगमगाते अपनी कहानी का समय के साथ सन्तुलन बनाते नजर आते हैं। वहीं 'समर शेष है' और 'अथकथा-इतिकथा' में उन पर समय के हिसाब से चलने का कोई दबाव नहीं था। विचार के सीधे-सीधे दबाव ने इस संग्रह तक आते-आते महेश कटारे को रस्सी पर चलने पर मजबूर किया है वह भी दर्शकों के सामने नहीं अकेले में। चाहे तो पाठक और आलोचक महेश कटारे के इन चारों कहानी संग्रहों को उठाकर देख लें, हाँ उनके बीच में दो कहानी संग्रह मुर्दा स्थागित तथा पहरूए भी आए लेकिन यहाँ बात 'छछिया भर छाछ' की, जिसमें समय का दबाव कहानी पर आलोचना की पड़ने वाली दृष्टि और परिणाम स्वरूप होने वाला उल्लेख जिसका सीधा उदाहरण 'कुकाल में हंटर' तथा 'अंकगणित में विदूषक' कहानियाँ हैं जहाँ महेश कटारे में अपनी स्वाभाविकता में विचलन दिखाई पड़ता है। लेकिन ऐसा भी नहीं कि एक महत्त्वपूर्ण रचनाकार अपने मूल स्वभाव की वजह से अपनी रचना का उल्लेखनीय स्वभाव बनाए नहीं रख पाता हो। संग्रह की कहानियाँ 'छछिया भर छाछ' और 'कांख में नदी' इसका प्रमाण है जहाँ महेश कटारे अपनी नैसर्गिक और स्वाभाविक लय या कहें मस्ती में हैं।

लेकिन महेश कटारे 'छछिया भर छाछ' कहानी संग्रह में जिस कहानी में अपने

सर्वश्रेष्ठ रूप में दिखाई देते है उस कहानी का नाम 'तूर्यनाद' है। मुझे लगता है कोई भी कहानीकार 'तूर्यनाद' जैसी कहानी लिखना चाहेगा और वहाँ लेखकीय गुण के चलते वे वहीं कर रहे हैं जो समय उनसे चाहता है। प्रतिरोध का सर्वश्रेष्ठ रूप वहाँ आप देखते हैं। ऊँचे काव्य-कथा मूल्यों से भरपूर सौन्दर्यबोध के तीखे प्रभाव की कहानी। काश 'आदि पाप' नाम की कहानी भी वहाँ पहुँच पाती जहाँ संग्रह की तूर्यनाद पहुँची! यदि आप महेश कटारे को जानना चाहते हैं तो उनके साथ उठिए-बैठिए। उनके रूप/व्यवहार की प्रशंसा करते हुए उन्हें प्रेमचंद कहिए या प्रेमचंद की परम्परा का रचनाकार, लेकिन आप यदि कहानियों के उल्लेख में अब तक कम स्थान घेरते आए कहानीकार महेश कटारे को जानना चाहते हैं तो 'छछिया भर छाछ' में घुसिए और पीछे चलते हुए उनके पहले और दूसरे कहानी संग्रह 'अथकथा-इतिकथा' तथा 'समर शेष है' की कहानियों तक पहुँचिए और खुद ही तय कीजिए महेश कटारे किस परम्परा के हैं। कालजयी कहानीकार प्रेमचंद की या अंततः हारकर अभावों में हंसते/जूझते, सबकी खिल्ली उड़ाते, खुद पर हंसते और भीषण परेशानियों/कठिनाइयों में भी जीवन जीने का रास्ता बना लेते ग्रामीण/कस्बाई मनुष्य की उस परम्परा के, आखिरकार जिसके हिस्से में आज भी 'छछिया भर छाछ' है और महेश कटारे को हम महेश कटारे रहने दें तो बेहतर महेश कटारे महेश कटारे ही अच्छे लगते हैं।

'छछिया भर छाछ' कहानी संग्रह पर लिखते हुए एक बात और जो सूझती है वह यह कि महेश कटारे की कहानियों की जिस विशेषता पर बात की जानी चाहिए वह उनकी कहानियों की भाषा है, ठेठ बोलचाल की स्थानीय बोली-बानी जो कहानी के किसी भी पात्र के चरित्र को उभारने के साथ-साथ परिवेश का वातावरण पैदा करने में सफल होती है। यही कारण है कि अपनी कहानियों में मात्र संवाद की स्थानिकता की वजह से महेश कटारे 'पटकथा' जैसा भाव पैदा कर देते हैं जबकि वहाँ पटकथा मौजूद नहीं होती है दूसरे उनकी भाषा (बोली) जो रोचकता और रस तथा अपनापा पैदा करती है वह 'विरल' है, एक मायने में कौशल

और कमाल भी। किन्तु जब वे भीड़ का हिस्सा बनने की कोशिश करते है, उन पर कोई दबाव काम करता है कथ्य के साथ-साथ उनकी भाषा भी रोचकता खोने लगती है, वाद-संवाद से रस सूखने लगता है।

उनके जिस पुख्ता आधार पर महेश कटारे को ग्रामीण परम्परा का या प्रेमचंद की परम्परा का कहानीकार बताया जाता रहा है या बताया गया है वही आधार, वही विशेषता महेश कटारे की सीमा भी नजर आती है। ऐसी सीमा जिसमें परिवेश तो तेजी से बदलता है लेकिन लेखक की दृष्टि नहीं। ऐसी स्थिति में उनकी कहानियों की स्थानिकता में परिचित व्यवहारिकता की विसंगति नजर आती है लेकिन उनकी कहानियों के पक्ष में जो बात ठोककर कही जा सकती है वो यह कि वे अपनी सीमा में कथ्य, संवाद और भाषा के मामले में विरल हैं। पाठकों के बीच अपनी कहानियों की पहचान और विश्वास बनाए रखने के स्तर पर भी उनका सृजन-संसार सफल है। 'छछिया भर छाछ' की कहानियाँ महेश कटारे को पहचानने की प्रक्रिया में इसलिए महत्त्वपूर्ण हैं कि अपनी कहानियों में भी वे वैसे ही हैं जैसा जीवन में।

छछिया भर छाछ, महेश कटारे, अंतिका प्रकाशन, सी-56, यूजीएफ-4, शलिमार गार्डन एक्सटेंशन-II, गाजियाबाद-201005, मूल्य : 100.00 (पेपर बैक)

'सावित्री', आई-10 साइट नं. 1, सिटी सेंटर ग्वालियर (म.प्र.)-474002,दूरभाष-0751-2234430, 09425109430

महात्मा गांधी अन्तर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय का प्रकाशन

चार खंडों में

हिंदी साहित्य का मौखिक इतिहास

(स्मृति-संवाद)

शोध एवं संपादन

नीलाभ

मूल्य
250/- (प्रति खंड)
1000/- (चारों खंड)

एकमात्र वितरक

शिल्पायन

10295, वैस्ट गोरख पार्क,
शाहदरा, दिल्ली-110032

विसंगतियों की उजली इबारत

उर्मिला शुक्ल

मौजूदा समय बहुत ही जटिल हो चुका है। बाजारवाद का जाल शहर से लेकर गाँव- देहात तक अपने पैर पसार चुका है। हमारे तीज-त्यौहार, रीति-रिवाज, खान-पान, शिक्षा-दीक्षा, बोली-बानी सब कुछ आज बाजार की चपेट में हैं। भ्रष्टाचार, छल-प्रपंच और पाखण्ड तो हमारी आचार संहिता में ही शामिल हो गए हैं। अपने समय की इन्हीं विसंगतियों को उकेरता संग्रह है–'पीले कागज की उजली इबारत।'

'लक्ष्य और अन्य कहानियाँ', 'बाजार में रामधन' के बाद कैलाश बनवासी का यह ताजा कहानी-संग्रह हमें गहरे तक आश्वस्त करता है। घोर व्यावसायिकता, जीवन शैली के बाजारीकरण के बावजूद आशा की एक चमक लिए ये कहानियाँ मनुष्यता को खारिज होने से बचाती हैं।

छत्तीसगढ़ अचंल को आधार बनाकर लिखी गई ये कहानियाँ वर्तमान समय को अनेक दृश्यों में बाँधकर हमारे समक्ष प्रस्तुत करती हैं। तेरह कहानियों के इस संकलन में वर्तमान समय की तमाम विसंगतियों यथा-वैश्वीकरण और बाजारीकरण के खेल को आधार देती बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की भूमिका, शिक्षा का व्यवसायीकरण, भारत के हिंदू-मुस्लिम सम्बन्धों की जमीनी हकीकत, पत्रकारिता और पीत पत्रकारिता जैसे विषयों को लेकर लिखी गई इन कहानियों की विषयवस्तु नई नहीं है किन्तु इनका प्रस्तुतीकरण इन्हें औरों से अलगाता है। सच तो यही है कि नवीनता विषयवस्तु में नहीं उसके प्रस्तुतीकरण में होती है।

कैलाश बनवासी वर्तमान भारत में व्याप्त इन समस्याओं को छत्तीसगढ़ अंचल से जोड़कर उसे एक अलग रूप देते हैं। संग्रह की पहली कहानी–'इस समय चिड़ियों के बारे में' बाजारवाद के बढ़ते कदम और मल्टीनेशनल कम्पनियों की चालाकियों को उजागर करती है। कहानी बहुत साधारण तरीके से हमें बाजार के बीच ले जाती है। यह दृश्य कोई नया नहीं है। वर्षों से हम यह सब देखते-सुनते और इसमें सहभागी बनते रहे हैं। पिछले कुछ दशकों से त्यौहारों का जैसा बाजारीकरण हुआ है उससे कोई भी अछूता नहीं है। कहानी हमें बहुत सहज तरीके से हमारे देखे-सुने दृश्य दिखाती है और हमें लगता है सच बिल्कुल ऐसा ही तो होता है। मगर बाजार में छत्तीसगढ़ अंचल

की ग्रामीण व्यवसायी औरतें जो पहले से व्यवसायी भी नहीं समय के अनुसार बाजार में अपने श्रम के बदले त्यौहार के लिए पैसा जुगाड़ लेने की चाहत में बाजार क बीच आती हैं। परंतु यह पैसे के बदले मिले शोषण पर वे महिलाएँ ही नहीं, पाठक भी हतप्रभ रह जाता है। अपनी बिक्री से ज्यादा टैक्स चुकाते इन जैसे तमाम श्रमजीवियों की दीवाली और बाजार द्वारा प्रचारित दीवाली का फर्क साफ नजर आने लगता है और कहानी में बाजार के सन्दर्भ में इस कथन से बाजारवाद का उद्देश्य भी सार्थक हो उठता है–''ये दे जतना के बेचे रहेवं तेनो ल कूपन वाला मन झटक के लेगे। अइसना में ते काला कमाबे बहनी। (पृ. 11) और हर कम्पनी दीवाली पर कुछ न कुछ दे रही है–नारियल तोड़ो ऑफर, पटाखा फोड़ो ऑफर, स्क्रैच एण्ड विन ऑफर...। हमारे दीवाली मनाने की हमसे ज्यादा चिन्ता इन कम्पनियों को हो गई है और यह भी कि हमारा दीवाली मनाता इन्हीं चमकदार हँसते-गाते बेफिक्र चेहरों द्वारा संचालित है। मैं तय नहीं कर पाता–दीवाली हमारी होती है या इनकी।'' (पृ. 8)

मल्टीनेशनल कम्पनियाँ विकासशील देशों को अपना बाजार तो बना ही चुकी हैं किन्तु बाजार में अभी भी कुछ हिस्सा इन देशों का है, मगर ये पूँजीवादी कम्पनियाँ उसे भी हथिया लेना चाहती हैं। इसीलिए वे लोगों को सपने दिखाती हैं, उन्हें नौकर नहीं हिस्सेदार बनने का प्रलोभन देती हैं। इनके झाँसे में आकर लोग इनके उत्पाद खरीदने को विवश हैं। इनका नेटवर्क बड़े शहरों से होते हुए छोटे-छोटे कस्बों तक में पहुँच चुका है। बड़े-बड़े सपने दिखाती

ये कम्पनियाँ किस कदर हमारे सपनों, हमारे सम्बन्धों का व्यवसायीकरण करती है। इस तथ्य को रेखांकित करती है कहानी–'वे जो देख रहे हैं।' कथानायक को उसका अन्धा दोस्त, दिनेश अपनी दोस्ती का हवाला देकर उसे और अन्य लोगों को अपनी स्कीम में शामिल करना चाहता है। बड़े-बड़े सपने दिखाता है। वह अपनी अन्धी आँखों में इतने बड़े सपने संजोये हुए है जिसकी पूर्ति के लिए उसे नेटवर्क बनाना है और यह नेटवर्क बनेगा अपने लोगों के उसपर विश्वास से। इस स्कीम की नब्ज पकड़ लेने वालों को कथानायक की तरह ही अपनों से ही भर्त्सना सहनी पड़ती है– ''अजीब आदमी हैं आप। दुनिया कहाँ से कहाँ निकल गई और आप वहीं पड़े हैं, आप समझने व मानने को तैयार नहीं हैं कि दुनिया बदल गई है। आप जैसों के लिए तो समय वहीं का वहीं ठहरा हुआ है। देखते नहीं क्या हो रहा है अपने यहाँ? आज इसी का जमाना है मेरे भाई। आप इसे रोक नहीं सकते।...यह भी कोई नौकरी है। इसमें कोई फ्यूचर नहीं...आप भी आ जाइए। दुनिया जहान की चिन्ता छोड़िए, अपना हित देखिए पहले। यह कोई गलत बात नहीं है। सारी दुनिया आज यह कर रही है।'' पृ. 33

आज शिक्षा अपने उद्देश्य से भटक चुकी है। निजी विद्यालयों और विश्वविद्यालयों का ध्येय ही शिक्षा का व्यवसाय करना है। किन्तु सरकारी स्कूल से जुड़े अधिकारी कर्मचारी और शिक्षक भी अपना कर्तव्य भूलकर शिक्षा को कामधेनु की तरह निरन्तर दूह रहे हैं। उन्हें इसके दुष्परिणामों की कोई चिन्ता नहीं है। मँहगी उच्च शिक्षा और उससे जुड़े लक्जरी सपने मध्यवर्गीय माता-पिता को किस कदर परेशान करते हैं इसके प्रमाण हैं–'आखिर इस दर्द की दवा क्या है?' के मास्टर जी, जिनकी बिटिया मेरिट के आधार पर इंजीनियरिंग कॉलेज में प्रवेश तो पा जाती है किन्तु उसकी मध्यवर्गीय अर्थव्यवस्था उसे निरन्तर कुंठित करती रहती है। वह अपने सहपाठियों से अपने को कमतर मानती है।

''वह पापा को बीच-बीच में बताया करती है कि पापा वहाँ तो कोई भी साइकिल में नहीं आता। प्रोफेसर्स कार में आते हैं, स्टूडेन्टस मोटर साइकिल्स में, यहाँ तक कि पिउन्स भी मोपेड में आते हैं। बड़ा अटपटा लगता है पापा...कॉलेज में घुसते ही सब साइकिल और मुझको घूरने लगते हैं मानो कोई अजीब जानवर देख लिया हो...सो पापा स्कूटी खरीद लीजिए, पापा प्लीज।'' पृ. 109

और शर्मा जी जैसा सीधा सादा जीवन जीने वाले इन्सान को भी लगता है कि बेटी के लिए स्कूटी निहायत जरूरी है। वे स्वयं बसों के धक्के खाते हुए सफर करते हैं। मगर बेटी के लिए प्राविडेंट फण्ड से पैसे निकालकर स्कूटी खरीदते हैं। यह एक शर्मा जी की ही कहानी नहीं है। यह वह यथार्थ है कि जिसे हर मध्यवर्गीय जी रहा है या जीने को मजबूर है। खर्चीली उच्च शिक्षा का दृश्य 'स्पीड' कहानी में भी उभरता है जहाँ इंजीनियरिंग कॉलेज के उच्चवर्गीय छात्रों के बीच मध्यवर्ग का लड़का अपने आपको बिल्कुल अलग-थलग पाता है। वहाँ सारे विद्यार्थी मौज मस्ती में डूबे हैं क्योंकि उन्हें पैसों की कोई चिन्ता नहीं है। वहीं अज्जू पैसों के अभाव में पढ़ाई अधूरी छोड़ने को विवश है। विद्यार्थियों को खिलंदड़ेपन से शुरू होने वाली यह कहानी पाठकों के समक्ष कई प्रश्न छोड़ जाती है।

शिक्षा को लेकर सरकार नई-नई योजनाएँ बनाती है। कई परियोजनाएँ चलाती है मगर उनकी हकीकत क्या है? रजनीश पाण्डेय जैसे तथाकथित शिक्षक उन योजनाओं को किस हश्र तक ले जाते हैं। इसका उदाहरण है–'पीले कागज की उजली इबारत।' शिक्षकों को ट्रेनिंग देकर उन्हें योग्य शिक्षक बनाने का सरकारी उद्देश्य महज खानापूर्ति बनकर रह जाता है– ''अधिकांश शिक्षकों के लिए यह प्रशिक्षण महज एक खानापूर्ति था। उन्हें अब तक दिए जाने वाले अन्य प्रशिक्षणों की तरह। उन्हें प्रायः कक्षा की पढ़ाई के बदले दस दिन के समाप्त होने में ज्यादा रुचि होती। फिर इस ट्रेनिंग में आयु की कोई सीमा निर्धारित नहीं थी, इसीलिए यहाँ इक्कीस से साठ इकसठ की वय वाले शिक्षक थे जिनकी तनख्वाह नियमित शिक्षकों के वेतन के आधे से भी कम थी हालाँकि काम उन्हें भी वही और वैसा ही करना था।'' पृ. 132

यह सरकारी व्यवस्था है, जिसमें शिक्षक, शिक्षक से शिक्षाकर्मी बना। इसने शिक्षा के प्रति सारी धारणाएँ बदल दीं। ये शिक्षाकर्मी शिक्षक की उस गरिमा से बहुत दूर हो गए जो कभी शिक्षक का आदर्श हुआ करती थीं। शिक्षाकर्मी ही नहीं रजनीश पाण्डेय जैसे नियमित शिक्षक भी शिक्षा और उससे जुड़ी योजनाओं का किस कदर दोहन करते हैं इसका जीवन्त उदाहरण है यह कहानी। शिक्षा जगत, जिसे ज्ञान का केन्द्र माना जाता है, वहाँ भ्रष्टाचार इस हद तक है कि यह योजना सुरा और सुन्दरी पर जाकर खत्म होती है। अपने मूल उद्देश्य शिक्षकों को ट्रेनिंग देकर उन्हें अच्छा शिक्षक बनाने के बजाय यह रजनीश जैसों के निजी स्वार्थ का वायस बन जाती है और कथानायक जैसे लोग जो इन योजनाओं में सार्थकता तलाशते हैं, वे मूकद्रष्टा बने रहने को विवश हैं–''नहीं सुधरेगा वर्मा जी। आपकी कोशिश बेकार है।...यह दुनिया जबसे बनी है तबसे केवल दो टाइप के लोग रहते आए हैं– एक चालाक लोग जो हुक्म चलाते है। दूसरे मूर्ख!...आप जैसे कुछेक लोगों के चिल्लाने से क्या समाज बदल जाएगा? नहीं बदलेगा। ...मैं तो अपने काम में लगा हूँ लेकिन मुझे पता है, मेरा काम आपको पसन्द नहीं आ

रहा है। खासकर अभी जो मैंने किया...या कर रहा हूँ। इससे तो सचमुच मुझसे नफरत होगी आपको और होनी भी चाहिए क्योंकि आप आदर्शवादी हैं सिद्धान्तवादी। समाज सुधार की बीड़ा लेके चले हैं। ...वर्मा जी शायद आपको पता नहीं, पन्द्रह साल के सेवाकाल में दो बार सस्पेंड हो चुका हूँ। क्या हुआ? कुछ नहीं। रुपया हर जगह बोलता है। आपकी तरह होता तो शायद अब तक बहाल भी नहीं हो पाता।'' (पृ. 142)

वर्मा जी को शिक्षा का भविष्य साफ दिखाई देने लगता है। नागार्जुन की कविता– ''घुनी हुई शहतीरों पर बारह खड़ी विधाता बाँचे'' का रूप पाठक की आँखों में घूमने लगता है और वर्मा जी को याद आते हैं। बसीली सुखोम्लीन्स, पोलिस शिक्षक यानूस कोपार्क, फिर उनके हाथों में आ जाती है पॉउलो फ्रेरा की किताब 'उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र' और उसे एक राह मिल जाती है।

यह कहानी यथार्थ के साथ-साथ एक आदर्श भी गढ़ती है जो आज के समय की माँग भी है।

वर्तमान भ्रष्ट शिक्षा व्यवस्था के बीच आदर्श तलाशती एक और कहानी है–'उनकी दुनिया'। बी.एड. के स्टूडेंट्स का शैक्षणिक भ्रमण कार्यक्रम। इस कार्यक्रम में शामिल है–'स्नेह आँगन' जैसे केन्द्र जो मानसिक रूप से कमजोर बच्चों का स्कूल है। हमारा समाज इनके विषय में कैसी सोच रखता

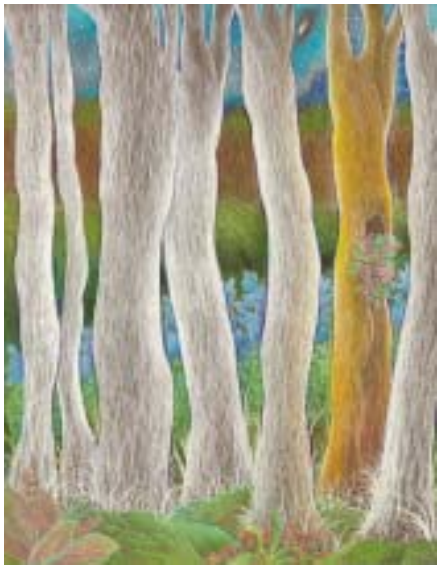

है। इसकी झलक इस कहानी में मिलती है–''लड़के आपस में शुरू हो गए। अबे मंदबुद्धि देख तेरा स्कूल आ गया?''

'कुछ लड़के-लड़कियाँ आदतन मोबाइल में व्यस्त हो गए और कुछ जिनकी जोड़ियाँ थीं वे भी मानो पीछे नहीं रहना चाहते थे। बाकी स्टूडेन्ट्स अपने-अपने ग्रुप बनाकर बिखर गए थे।''

वे लौट रहे हैं।...उसके आगे लड़कों का छोटा-सा ग्रुप है वह चुप सुन रही है उन्हें...''

'अपन अगर थोड़ी देर यहाँ और रह लिए तो सहीच में 'पागल हो जाएँगे। लग रहा है अपन भी यहाँ मन्दबुद्धि हो गए हैं। मान लो कल को ऐसी किसी जगह नौकरी लग भी गई तो अपने को बताने में साली शरम आएगी। पूछेंगे कहाँ पढ़ाते हो? किसको पढ़ाते हो, हम कहेंगे-मन्दबुद्धि बच्चों को! अन्धे गूँगे बहरों को। साली ये भी कोई लाइफ है, गूँगे बहरों के बीच? कोई चार्म नहीं। इट्स बोरिंग यार।'' (पृ. 126) यह है इनके प्रति हमारी एवं हमारे समाज की सोच।

मगर कहानी में सुलेखा जैसी समर्पित शिक्षक हैं। डॉक्टर सक्सेना जैसे लोगों के हाथ में इस स्कूल की बागडोर है जो नेत्रहीन होते हुए भी इनके भविष्य को देखने और गढ़ने में लगे हैं। और वर्मा जी जैसे लोग भी हैं जिनके लिए यह स्कूल भी एक साधारण शैक्षणिक भ्रमण है। इसीलिए वे निर्विकार भाव से मुस्कुराते रहते हैं।

दिव्या जैसी नई पीढ़ी है, जो इन बच्चों के प्रति लगाव तो रखती है मगर भ्रम में डोल रही है और अन्ततः पलायन का मार्ग चुन लेती है। यह कहानी समाज के कटु यथार्थ को अभिव्यक्त करती है।

संग्रह की अन्य कहानियाँ, 'दृश्य कथा', 'झुका हुआ गाँव', 'रेलगाड़ी में रीछ' भी वर्तमान समय को उजागर करती है। 'दृश्य कथा', तांगा चालक के बहाने पुलिस, न्याय, पत्रकार, न्यायाधीश, वकील, मन्त्री, कलाकार व लेखकों की हकीकत बयाँ करती है। घोड़ी को घर की लक्ष्मी मानकर उसकी इज्जत के लिए जेल तक पहुँचने वाला तांगेवाला सन्तोष, अपनी पत्नी की इज्जत बचाना तो दूर उस विषय में सोच पाने की

स्थिति में भी नहीं है और उसकी पत्नी अनीता पति को बचाने के लिए कुछ भी करने को तैयार है। यह उसकी विवशता है।

'रेलगाड़ी में रीछ' वर्तमान समय में व्याप्त चरम धर्मान्धता और उसके परिणामों पर केन्द्रित हैं।

संग्रह की ये कहानियाँ छत्तीसगढ़ अंचल को आधार बनाती हैं। अंचल की विशेषताओं में घुली-मिली समस्याएँ इन्हें एक अलग मुकाम पर ले जाती हैं।

इन कहानियों में यथार्थ से उपजी घोर निराशा ही नहीं है आशा की झलक भी है। ये कोरे बयानबाजियों की कहानियाँ नहीं, बल्कि सामाजिक सरोकार से गहरे जुड़ती हैं। शिल्प की कोरी बाजीगरी की कहानियाँ न होकर ये वर्तमान को अभिव्यक्त करती हैं और भविष्य का खाका खींचती हैं।

भाषिक आँचलिकता इन्हें एक अलग मुकाम पर ले जाती हैं कहीं-कहीं भाषिक दोष जरूर खटकता है जो इस अंचल की देन है। इससे उबरने की आवश्यकता है।

कुछ कहानियाँ मार्क्सवादी उद्धरणों से आरोपित-सी लगती हैं। बावजूद इसके कैलाश बनवासी का यह संग्रह हमें आश्वस्त करता है कि कहानी अपनी दिशा से भटकी नहीं है। वह अपनी जमीन खुद तलाश रही है। संग्रह की कहानियों की पठनीयता भी इनकी खासियत है।

'पीले कागज की उजली इबारत, अंतिका प्रकाशन, सी-56/यूजी.एफ-4, शालीमार गार्डन, एक्सटेंशन-II, गाजियाबाद (उ.प्र.), मूल्य : 100.00 (पेपरबैक)

ए-21, स्टील सिटी, अवंति विहार, रायपुर, छ.ग., मो. 09893294248

आदि मध्य और अन्त

केवल गोस्वामी

कविता पर बहस करना सार्थक हो सकता है जबकि कविता-कविता के लिए न होकर आदमी के लिए, विशेषकर दबते-पिसते मेहनत-मशक्कत करते आदमी का दुख-दर्द बखानती हो। जिन कवियों ने इन विकास बिन्दुओं को अपनी रचना के माध्यम से छुआ है, उनकी कविताएँ देर तक याद रहने वाली कविताएँ रही हैं। रचनाकारों का एक वर्ग वह भी है जो यथास्थिति का पोषण बड़ी चालाकी के साथ कर रहा है और पाठक को कविता के नाम पर शब्दजाल और भ्रमजाल में लगातार लपेट रहा है। वक्त की पहचान के लिए गम्भीर दृष्टि की आवश्यकता है। सीधी सपाटबयानी संप्रेषणीयता का मानदण्ड नहीं और अगर सपाटबयानी को कविता मान भी लिया जाए तो वह बयान किसके पक्ष में जाता है। कवि अगर काव्य-भाषा से गुरेज कर सीधे-सीधे कथा कहने पर उतर आता है तो पाठक ऐसी कविताओं से विमुख हो जाता है।

उदय प्रकाश के इस संग्रह–'एक भाषा हुआ करती है।' की अधिकांश कविताएं इन्हीं विसंगतियों और विरोधाभासों के बीच फँसी दिखाई देती हैं। कहीं वह सपाटबयानी का आधार लेकर सीधे-सीधे कहानी कहना शुरू कर देते हैं और अन्तिम पंक्तियों में कुछ ऐसा चमत्कार करने की चेष्टा करते हैं कि पाठक को कविता होने का आभास हो। वहीं अत्यन्त संवेदनशील समय को इंगित करती हुई पाठक को संग-संग लेकर चलने वाली कविताएँ भी हैं। कहीं इतिहास के किसी रौंदे हुए पृष्ठ की सलवटें निकालकर आपकी आँखों के सामने चस्पा कर देते हैं, फिर आप आँखें फाड़-फाड़कर उसे देखें, बाँचें और उन पंक्तियों के मध्य, रिक्तताओं में कविता खोजने का असफल प्रयास करें। ऐसी कविताओं से प्रायः वितृष्णा ही होती है तथा पाठक और कविता में दूरी बढ़ती है। इस संग्रह में भले ही इस प्रकार की कविताएँ अधिक न हों, किन्तु जितनी भी हैं वे काव्य संस्कार एवं काव्य संवेदना को कुंठित करती हैं और कवि की गर्वोक्ति को उजागर करती हैं। 'चंकी पाण्डे मुकर गया है।' किसी कविता के लिए यह शीर्षक न केवल हास्यास्पद है, किन्तु कविता, कविता के नाम पर एक भदेस है। यह अखबारी बयान होती तो भी इसे सुगमता से पढ़ पाना कठिन होता है। 'आग' कविता में फिर उस इतिहास की ओर पाठक को कवि धकेलता है जिस इतिहास की ओर हर चुनाव से पहले राजनीति दल हो हल्ला करते हैं, यह मुद्दा संवेदनात्मक कम राजनीतिक अधिक हो गया है। इस कारण सर्व साधारण को इससे वितृष्णा होने लगी है, यानी नवम्बर '84। कवि भले ही 30 अक्टूबर से शुरू करता है यह विवरण।

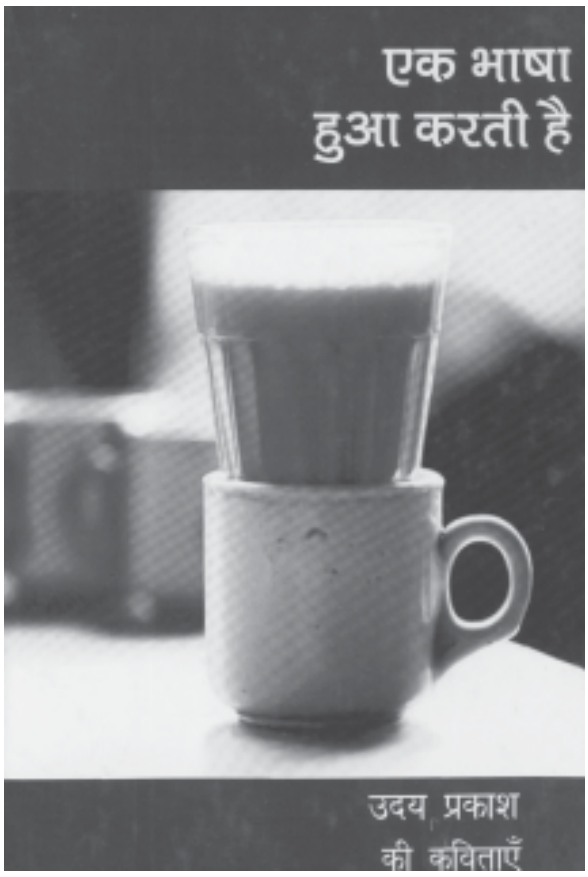

'वे यहीं कहीं हैं', में 1 जनवरी का यानी 'सफदर हाशमी की हत्या की स्मृति में' ऐसी कविताएँ लिखने की भी एक अबूझ रिवायत है। उन सारे विवरणों, बयानों, आख्यानों के मध्य कवि स्वयं किसी षड्यन्त्रकारी रूप से अदृश्य होता है–"देखो वे तीनों सफदर, पाश और सुकांत/और लोर्का और नजरुल और मोलाइसे और नागार्जुन/कास्ट्यूम बदलकर नाटक में अपनी-अपनी भूमिका निभाएँगे, कवि यह किसको सम्बोधित कर रहा है–"वे तीनों से शुरू करके कुछ और नाम उसे याद आते हैं उन्हें बताते-बताते आँकड़ा बदल जाता है। उसकी अपनी भूमिका इस नाटक में कहाँ है यह गोपनीय ही रहता है। रचनाकार को जब यह इलहाम हो जाता है कि वे औलिया हो गया है तो उसकी एक ही भूमिका शेष रहती है भटकों को रास्ता दिखाने की। इस भ्रम में वह अपना रास्ता भूल जाता है।

जैसा कि मैंने पहले संकेत किया इन कविताओं का कालखण्ड बहुत विस्तृत

है, 1984 से होते-होते बरास्ता 1990 से आज तक। कथा लेखन की ओर प्रवृत्त हो जाने के बाद उदय कविता के प्रति उदासीन हो गए लगते हैं। संग्रह के संकलित उनकी कविताओं का मुहावरा भी लगभग उसी समय का है जब उदय ने कविता लिखना आरम्भ किया था। उसकी एक कविता है ''एक जल्दबाज बुरी कविता में आँकड़े'' कविता में आए अनेक फालतू विवरणों के बावजूद अन्त में कवि का फतवा (जिसे वह स्थापना कहना चाहेगा) 'यानी मुकम्मल कविता के नीचे/एक बहुत बड़ा शमशान होता है।' 'जितना बड़ा शमशान/उतना ही कवि और राष्ट्र महान।' कविता में ऐसे प्रयोग सार्थक हैं या निरर्थक इसका निर्णय कवि शायद स्वयं भी नहीं कर पाता। कवि भाषा के प्रति कितना असहिष्णु है (भले ही पुस्तक का शीर्षक : 'एक भाषा हुआ करती है' है) 'पेसिफिक मॉल के ठीक सामने/या फिर ड्रग एडिक्ट की/अनंत ट्रैफिक' जिस सामान्यजन के पक्ष में वह कविताएँ लिखता है क्या उसके शब्दकोश में ये शब्द हैं या फिर आज की कविता की यह भाषा है? ये प्रश्न बहस तलब है।

'इस फसल के अन्न में/होगा/धूप जैसा आटा/बादल जैसा भात' इन बिम्बों की मौलिकता पर तो आह या वाह की जा सकती है किन्तु सार्थकता पर सवाल उठना लाजमी है। संकलन में वे कविताएँ भी शामिल हैं जिन्हें कवि औलिया का जामा उतारकर सर्वसाधारण से संवाद स्थापित करने के लिए लिखता है। यथा–'माँ' ''उस दिन गिर रही थी नीम की एक पत्ती', 'न बरहमनी न कैथी यिद्दिश में था जीवन', 'एक द्युति भर' संकलित कविताओं में ऐसी कविताओं की संख्या कुछ और अधिक होती तो कविता से बिदकते पाठक को कुछ अधिक सन्तोष होता।

99 पृष्ठों की पुस्तक में 11 पृष्ठ कोरे हैं उस पर 140/- रुपये मूल्य कुछ नहीं बहुत अखरता है क्या यह भी मंदी की मार है?

एक भाषा हुआ करती है, उदय प्रकाश, किताब घर, 24 अंसारी रोड, दरियांगज, नई दिल्ली-110002, मूल्य 140/- रुपये

जे. 363, सरिता विहार, मथुरा रोड, नई दिल्ली-110076, मो. 9871638634

कविता

टकराहटों में जीता हुआ कवि

सन्तोष कुमार राय

मलय पाँच दशक से कवि-कर्म से जुड़े हुए हैं। 'देखते न देखते' इनका आठवाँ कविता-संग्रह है। मलय मूलतः प्रगतिवादी जनवादी धारा के रचनाकार हैं। इस संग्रह की कविताओं के मूल में परिवेश और रचनाकार का अनुभव है। मलय की कविताओं को परिभाषित करने के लिए निराला की परिभाषा 'कविता परिवेश की पुकार है'– सर्वाधिक उपयुक्त होगी। यह कहना गलत नहीं होगा कि एक ओर जहाँ निराला की दी हुई परिभाषा मलय की कविताओं को खोलने का एक महत्त्वपूर्ण औजार होगी, वहीं ये कविताएँ इस परिभाषा की अर्थवत्ता को और अधिक परिपुष्ट करेंगी।

आधुनिक कवियों की फेहरिस्त में मलय की पहचान अलग है। उन्हें यह पहचान उनकी कविताओं की भाषिक सजगता और तार्किक स्वच्छन्दता से प्राप्त होती है। मलय आज उम्र के जिस पड़ाव पर हैं वहाँ से इतनी सजग रचनाएँ देना वाकई बहुत बड़ी बात है। ये कविताएँ और अधिक महत्त्वपूर्ण इसलिए हैं क्योंकि उनकी रचनाएँ कहीं भी 'पुनरुक्ति दोष या आत्मखण्डन' की शिकार नहीं हैं, जिसे धूमिल के शब्दों में इस उम्र की 'वाजिब मजबूरी' कहा जा सकता है। इस सन्दर्भ में मंगलेश डबराल' की टिप्पणी सही लगती है कि, 'प्रसन्नता की बात यह है कि उम्र के जिस पड़ाव पर रचनाकारों के जीवन-अनुभव अक्सर चुकने लगते हैं और वे अपने को दोहराने लगते हैं मलय की रचनाशीलता का आकाश विस्तृत ही हो रहा है।'' निश्चित तौर पर इसे मलय के अनुभव जगत की विस्तृत अभिव्यक्ति कहा जा सकता है।

'देखते न देखते' का कवि आज समस्याओं से सीधे-सीधे टकराता है। आज जिस तरह से बाजार हमको घेर रहा है और हम बाजार के इशारों पर नाच रहे हैं, रचनाकार की चिन्ता बाजार के सन्दर्भ बहुत ही गम्भीर हो जाती हैं। बाजार के वीभत्स रूप का अहसास रचनाकार को हैं। बाजार की गुलामी को न चाहते हुए भी मनुष्य स्वीकार कर रहा है क्यों?

'बाजार जाता हूँ
तो क्या चीजों का गुलाम होने से
बच पाता हूँ?'

यह चिन्ता 'बूँद-भर आब' के बहाने और विस्तृत होती है–

'इस बाजारू समय में
व्याप्त खाइयों की तरह
फैलती-गहराती है
अब बूँद-भर आब भी
कितनी कठिन होती जाती है।'

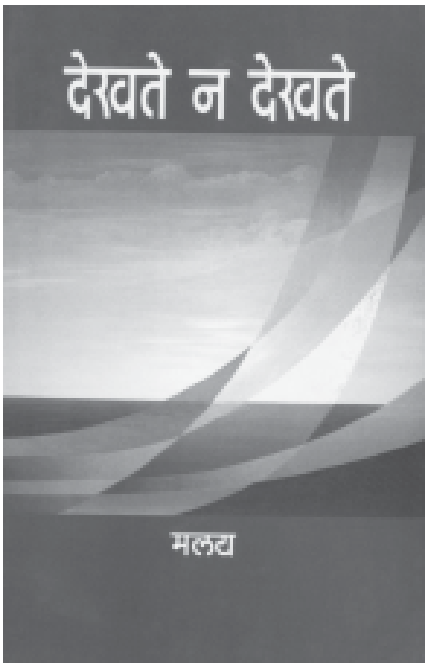

'देखते न देखते' की कविताओं में सामाजिक विषमताओं से टकराहट दिखाई देती है। कवि के अनुभव जगत का विस्तृत क्षेत्र आधुनिक बदलावों को आत्मसात नहीं कर रहा है, क्योंकि उन्हें इन बदलावों और उनसे पैदा होने वाली विसंगतियों का पता है। 'थरथराता पानी' कविता में एक नई टकराहट को रचनाकार सामने लाता है–

'टकराकर उछलते कणों में
रेत-सा उड़ता
छितराया छत्र नहीं है।'

आगे यह टकराहट बढ़ते हुए अंदाज और गम्भीर होकर आती है–

'तो चबाने वाला अपनी ही किटकिटाहट
या टकराहट को ही खाता है
और विचारशील प्रवाहिता
चिथकर भी चकराती नहीं।'

रचनाकार अपने जीवन का लम्बा समय व्यतीत कर चुका है। उसके सामने अनेक बदलाव हुए हैं। इन बदलावों ने मानवता को किस कदर तोड़ा है इसे भी रचनाकार ने स्वर देने का प्रयास किया है। मनुष्य जब किसी मानवता विरोधी स्थिति या विचारधारा से टकराता है तो सिर्फ तोड़ता नहीं, खुद भी टूटता है। टूटते हुए जीवन-प्रसंगों के सन्दर्भ में 'आँखों के सामने' कविता कुछ इस तरह व्यक्त हुई है–

'टकराते टूटते हुए
कैसे चूर-चूर होते हैं
जीवन के बहुतेरे प्रसंग।'

इन सारी बातों के बाद भी रचनाकार हारने के लिए तैयार नहीं है और लगातार वह लड़ना चाहता है। क्योंकि–

'टकराकर टूटकर आइने की तरह
टुकड़ों-टुकड़ों में बिखर जाने को...
साँसों में बने रहते हैं
जब शब्द हमें आँख दिखाते हैं।'

रचनाकार इस लड़ाई को लगातार जारी रखना चाहता है, क्योंकि उसे पता है कि आज नहीं तो कल एक क्रान्ति अवश्य होगी। जो बीज समाज में अंकुरित होने के इन्तजार में है वह एक दिन क्रान्ति वृक्ष जरूर बनेगा। 'कोई हारता नहीं है' कविता में कुछ इसी तरह की आशावादी सोच सामने आती है–

'इस तरह कोई हारता नहीं है युद्ध
लेकिन बीज
अनेक वर्षों तक
जमीन में गड़े रहकर भी
कभी सांस लेने लग जाते हैं
और हरियाली का दुपट्टा
अचानक उनके सिरों पर आ जाता है।'

इस तरह से इस संग्रह की और भी महत्त्वपूर्ण कविताएँ हैं जो सामाजिक चिन्ता को हमारे सामने रखती हैं। मसलन 'भाषा का कण्ठ खुलता है', 'जाता हुआ समय', 'शब्दों की प्यास', आदि।

जिस तरह से 'देखते न देखते' में बाजार, टकराहट तथा न हारने की असीम जीजीविषा दिखाई देती है उसी तरह से बीतते हुए जीवन का प्रामाणिक अनुभव भी व्यक्त हुआ है। रचना जगत से लम्बे समय से जुड़ने के कारण यह अनुभव आधुनिक रचनाकारों के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। जीवन के अन्त को रचनाकार ने बहुत ही मार्मिकता के साथ व्यक्त किया है–

'जीवन का अन्त
सूखे पत्ते की तरह झरकर नहीं हो जाता
काल के कफन को गलाकर, वह
समय की रेत के तल में भी
अदृश्य/झरता/रहता
है।'

और अन्त में यही कि रचनाकार की कविताओं का छोटा आकार ही उनके विस्तार का प्रमाण है, क्योंकि–

'इस डूबती हुई नाव में
वह इतिहास-हीन-इतिहास का लेखक
बैठा है
अकेला बच रहेगा
और ब्रह्माण्ड में भी अपनी उड़न करामातों से
चन्द्रमा और दूसरे ग्रहों पर/नई दुनिया
रचने का इतिहास लिखेगा
सम्भव है क्या?
सही-सही लिखा जाएगा यह इतिहास।'

देखते न देखते, मलय, परिकल्पना प्रकाशन, 69, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशात गंज, लखनऊ-226006

साहित्य विभाग, महात्मा गांधी अन्तरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, पो. मानस मंदिर, वर्धा (महाराष्ट्र)

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय का प्रकाशन

छवि - संग्रह

यों तो किसी भी लेखक की सबसे जीवंत उपस्थिति उसकी रचना में होती है पर जैसे हम एक रचना पढ़कर दूसरी रचना खोजते या एक पुस्तक से गुज़रकर दूसरी के लिए उत्सुक अधीर होते हैं वैसे ही हमें इच्छा होती है यह जानने की कि वह लेखक कैसा दीखता है उसका पासपड़ोस कैसा है, वह किनकी सोहबत में रहता आया है, आदि। छवि-संग्रह के माध्यम से हमारा यत्न समकालीन मूर्धन्य लेखकों पर ऐसी सामग्री एकत्र और विन्यस्त करना है तो एकबारगी हमें लेखक के समूचे कृतित्व, उस पर विभिन्न अभिमतों, उसके लिखे, चुने हुए अंशों, उसके अनुवादों, मित्रों, यात्राओं, पड़ोस आदि से अवगत करा दे। यह लेखक को उसकी कृतियों, उसके परिवेश और उसके ठोस संदर्भ में जीवित उपस्थिति के रूप में साक्षात् करने की कोशिश है। यह एक सीरीज है जिसमें, हमें उम्मीद है, हम अनेक मूर्धन्य लेखकों को एक-एक कर उपस्थित कर सकेंगे।

अभी तक प्रकाशित छवि-संग्रह :

निर्मल वर्मा, कुँवर नारायण, कृष्णा सोबती, विष्णु प्रभाकर, भीष्म साहनी, नेमिचंद्र जैन, मनोहर श्याम जोशी और नामवर सिंह

कालजयी हिंदी कहानियाँ

निर्मल कुमार चक्रवर्ती

हिंदी साहित्य में कहानी की विधा दोयम है अथवा महत्त्वपूर्ण, यह बात बहस का विषय रही है और आज की तारीख में भी हो सकती है, लेकिन हिंदी कहानियाँ विश्व के उत्कृष्टतम कथा-साहित्य का अंग हैं, यह निर्विवाद तथ्य है और 'हिंदी की कालजयी कहानियाँ' नाम की इस पुस्तक में अधिकांश ऐसी चुनींदा कहानियाँ संकलित की गई हैं, जो देश-विदेश की किसी भी भाषा की सर्वश्रेष्ठ कहानियों से श्रेष्ठ हों न हों, पर उनके समकक्ष अवश्य हैं। मूर्धन्य समालोचक डॉ. नंदकिशोर नवल और डॉ. तरुण कुमार द्वारा संपादित यह पुस्तक एक हद तक इस कमी को पूरा करती है। एक साथ एक जिल्द में अलग-अलग दौर की बहुप्रशंसित और सशक्त कहानियाँ साहित्य-प्रेमियों को इस पुस्तक के माध्यम से उपलब्ध हुई हैं। साथ में कहानियों का विभिन्न पहलुओं से सूक्ष्म विश्लेषण भी संपादकीय वक्तव्य में मौजूद है, हालाँकि चयनित कहानियाँ विस्तार में कहानी की सीमा में होने के बावजूद इतनी गहरी हैं कि लगता है, बेहद हड़बड़ी में ये टिप्पणियाँ की गई हैं। वस्तुतः ये कहानियाँ विस्तृत एवं सुदीर्घ वक्तव्यों की अपेक्षा रखती हैं। इन्हें इस तरह जल्दी में 'निबटाना' अन्याय है। वैसे डॉ. नवल की पसंदीदा विचरण-भूमि कविता है और कविता-समालोचना के क्षेत्र में उन्होंने शिखरों को नापा है, बाँधा है। एक सुखद बात यह दिखती है कि पैमाना विदेशी भाषाओं की कहानियों को नहीं बनाया गया है, न डी.एच. लॉरेंस को, न चेखव को, न टामस हार्डी या किसी अन्य पाश्चात्य भाषा के कथाकार को। दरअसल तमाम भारतीय भाषाओं में आलोचना, साहित्य या आलोचकों की यह मजबूरी अथवा कमजोरी रही है कि अपनी भाषा के साहित्य को परखते-तौलते वक्त भी मानदण्ड और उपकरण इतर भाषाओं के ही आजमाए जाते हैं। भूमिका की शुरूआत में ही संपादक ने हिंदी की कहानी विधा की विकास-यात्रा के उल्लेख के क्रम में हिंदी कथा-साहित्य के किस्सागोई से मुक्त होने की बात कही है। सच लेकिन यह भी है कि कहानी अन्ततः किस्सागोई भी है; हाँ, वह परीकथा या राजों-रजवाड़ों की गाथा या पौराणिक-अलौकिक प्रसंगों का बयान हो, इतना-भर काफी नहीं। संपादक का यह मंतव्य सत्य है कि हिंदी में इस विधा का जितनी तेजी से विकास हुआ और कुछ ही दशकों में इसने जो ऊँचाई छुई, दूसरी पूर्व विकसित भाषाओं में भी दुर्लभ है एवं इस सर्जक क्षमता का यह अद्‌भुत विस्फोट अन्य भाषाओं के लिए ईर्ष्या का कारण बन सकता है। वैसे कुल मिलाकर कहानी की दुनिया के आदमी के करीब आने में अर्थात् जीवन का अंग बनने में विधा की सार्थकता प्रमाणित हुई है, यह टिप्पणी समीचीन है।

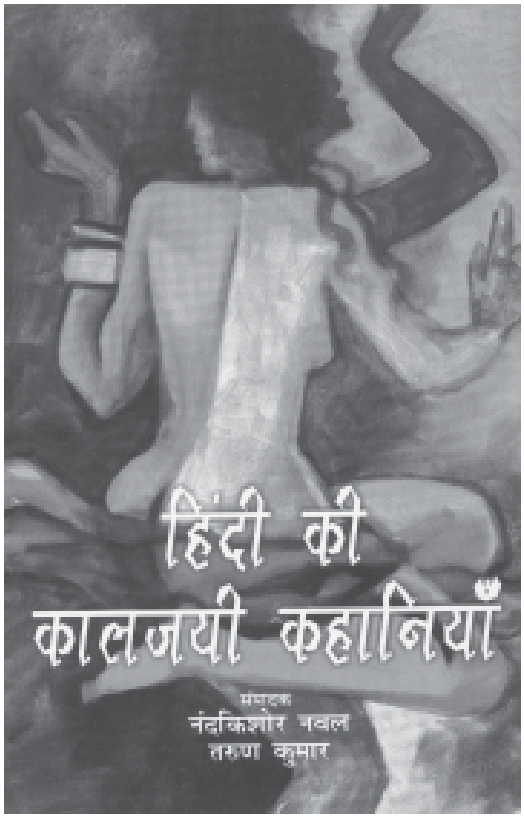

जहाँ तक कहानियों के चयन का मुद्दा है, थोड़ा मतान्तर सम्भव है। कालजयी रचना होने की शर्तें कौन-सी हैं और क्या संकलन में समाहित तमाम कहानियाँ उन्हें वस्तुतः पूरा करती हैं या कि मानदण्ड संपादकों की व्यक्तिगत पसन्द है? क्लासिक कृति हमेशा सर्वजनप्रिय हो, ऐसा भी नहीं होता और बेस्टसेलर या अतिलोकप्रिय कृति निकृष्ट औसत ही हो, ऐसा भी नहीं है। इस संकलन में शामिल अधिकांश कहानियाँ बहुजन-पठित भी हैं और विदग्ध आलोचकों द्वारा समादृत भी। फिर भी कुछ कहानियों को लेकर प्रश्न उठ सकता है, जिन्हें पाठक स्वयं पहचान लेंगे। आलोचक के इस मंतव्य से भी पूर्णतः सहमत नहीं हुआ जा सकता कि कहानी साहित्य की बेहद गौण विधा है। हाँ, केन्द्रीय विधा है या नहीं, यह बात विवाद का विषय हो सकती है। साहित्य-प्रेमी इस तथ्य से भली-भाँति अवगत हैं और दिल-दिमाग से इसे महसूस करते हैं कि कहानी की ताकत कितनी होती है। आयतन कितना भी लघु क्यों न हो, हिंदी ही नहीं, विश्व की तमाम भाषाओं में कहानी को भी क्लासिक का दर्जा हर कालखण्ड में मिला है। आकार छोटा हो सकता है, मगर गहराई एवं फलक की

व्यापकता कहानी में भी सुदूर तक प्रसारित हो सकती है, इतनी कि वह देश-काल और भाषा का अतिक्रमण कर लेती है। तमाम भाषाओं में इसके सैंकड़ों दृष्टांत हैं, इसलिए कहानी विधा के प्रति संपादक की उक्त टिप्पणी अनुदार प्रतीत होती है। हालाँकि डॉ. नवल खुद अच्छी कहानियों के क्लासिक होने की सच्चाई को भी नहीं नकारते। कविता अथवा उपन्यास के समकक्ष और समानान्तर खड़े होने की कूवत किसी भी उत्कृष्ट कहानी में बखूबी होती है, यह साहित्य का हर पाठक जानता है। भूमिका में नई कहानी बनाम साठोत्तरी कहानी के विवाद के सन्दर्भ में संपादक के विचार तर्कसंगत एवं इतिहास-प्रमाणित हैं।

प्रेमचंद हिंदी कथा-साहित्य के निर्विवाद शलाका-पुरुष हैं। उनकी एक से एक नायाब कहानियाँ हिंदी साहित्य के खजाने के अनमोल रत्न हैं। कुछ तो ऐसी हैं कि कौन उत्कृष्टतर है, यह फैसला करना असम्भव है। 'बूढ़ी काकी' हो या 'पूस की रात', सभी को प्रेमचन्द ने असीम ऊँचाइयों तक पहुँचा दिया है। 'कफन' कहानी में सामंतवादी भू-व्यवस्था के फलस्वरूप उपजे चरम दैन्य और अमानवीयकरण में उसकी परिणति का जैसा जीवंत वर्णन प्रेमचन्द ने पात्रों के मनौवैज्ञानिक चित्रण द्वारा किया है, वह वस्तुतः बेजोड़ है। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की कहानी 'उसने कहा था' हिंदी साहित्य की अनुपम कहानियों में से गिनी जाती रही है तथा आज भी है। उन्नीस कहानियों की इस लड़ी के पहले मनके के रूप में इसे वाजिब जगह मिली है। संपादक ने इस कहानी के सम्बन्ध में पूर्व में कायम की गई विभिन्न विद्वानों की राय में हुई चूक पर सही ऊँगली रखी है। वस्तुतः यह प्रेम में प्राणोत्सर्ग की रुटीन दुखान्त कथा नहीं है। प्रेम में जीवन-बलिदान की गाथा भी यह नहीं है। प्रेम में मिली हताशा और अपने प्यार की असफलता नायक की जीने की चाहत को प्रभावित करती है अर्थात् स्वेच्छामरण। यह इस कहानी का सत्य है।

जयशंकर प्रसाद की 'आकाशदीप' कहानी निःसन्देह पूर्णतः आदर्शवाद के धरातल पर रचित है। ऐसे सृजन की एक स्वाभाविक दुर्बलता होती है। भाषा एवं शिल्प की सशक्तता के बावजूद इसमें सोद्देश्य लेखन झलक जाता है और तमाम कसाव के बावजूद भावुक की व्याप्ति इसे कमजोर करती है। इसी कारण से यह कहानी अन्य संकलित यथार्थवादी कहानियों की तुलना में कम प्रभावशाली है। निरालाा की कहानी 'चतुरी चमार' बेशक हिंदी की सर्वकालीन सर्वोत्कृष्ट कहानियों में से एक है और गद्य पर निराला के प्रचण्ड अधिकार की बानगी है। संस्मरणात्मक शैली में लिखित यह कहानी अन्तर्वस्तु के स्तर पर प्रेमचंद की कहानियों के सदृश है और यथार्थवाद इसका भी मूल राग है, मगर भाषा-शिल्प की दृष्टि से यह कहीं अधिक आकर्षक है। जैनेन्द्र की 'पत्नी' भी निःसन्देह हिंदी की श्रेष्ठ कहानियों में से एक है और स्वाद तथा तेवर में पूर्वचर्चित कहानियों से सर्वथा भिन्न। यह जैनेन्द्र की रचनाधर्मिता की विशिष्टता है। मानव-चरित्र जटिल होता है, मात्र देवगुणसम्पन्न या आसुरिक प्रवृत्तिवाला नहीं। नायिका सुनन्दा के माध्यम से कथाकार ने वैयक्तिकता को सामाजिकता या सामूहिकता से अधिक महत्त्वपूर्ण दिखाया है और इस पात्र के चरित्र-चित्रण में असाधारण निपुणता भी दिखाई है। मगर यह भी मनोविज्ञान के स्तर पर एक प्रकार का यथार्थवाद ही है, हालाँकि इस किरदार को गढ़ने में अपनाई गई जटिलता आलोचकों के लिए जितनी महत्त्वपूर्ण है, उतनी सामान्य पाठकों के लिए नहीं। फिर भी संकलन में स्थान पाने की हकदार तो यह कहानी थी ही, शत-प्रतिशत कालजयी हो या न हो।

यशपाल हिंदी कथा-साहित्य के सशक्तम रचनाकारों में से एक हैं। आलोचक मानें न मानें, सुधी पाठकों का स्नेह, सम्मान उन्हें भरपूर मिला है, जिसके वे योग्य अधिकारी हैं। ठोस वैचारिक आधार पर कुछ रचने में फिसलने की गुंजायश हमेशा बनी रहती है और अधिकांशतः ऐसा सृजन कालांतर में ठस साबित होकर कूड़ेदान में निर्वाण प्राप्त करता है। यशपाल के अधिकांश रचनाकर्म की भाँति 'तुमने क्यों कहा था मैं सुन्दर हूँ' कहानी भी शिल्प, अन्तर्वस्तु और भाषा, सभी स्तरों पर अद्वितीय है। सेक्स और सौन्दर्य को वर्जना या रोग मानने वाले और मार्क्सवाद के सूत्रों को जपकर हर प्रकार के सौन्दर्य को अस्पृश्य करार देने वाले पण्डितों को भले ही यह कहानी हजम न हो, मगर सेक्स भी भौतिक जीवन का अपरिहार्य सत्य है। कहानी के चयन के लिए संपादक बधाई के पात्र हैं। अज्ञेय की 'गैंग्रीन' कहानी हिंदी कथा-साहित्य में अपनी किस्म की पहली कहानी है और आधुनिक जीवन-शैली के अमानवीय दबाव से चूर होती संयुक्त परिवार की परम्परा के फलस्वरूप अपने एकाकीत्व के अभिशाप का वर्णन है। बगैर किसी नाटकीय उपादान के फेंटफाँट के लिखित यह कहानी वस्तुतः मील का पत्थर है। दृश्य चित्रणों की उत्कृष्टता के सहारे छोटी-सी कहानी को कितनी ऊँचाई पर ले जाया जा सकता है, यह उसका लाजवाब नमूना है। अश्क की 'डाची' मानवीय संवेदनाओं की तरलता से भरी एक बेहद कोमल कहानी है। इसकी पाठकों को बाँधने की चुम्बकीय

ताकत से तो इन्कार नहीं किया जा सकता, मगर इसमें नाटकीय तत्त्वों, घटनाक्रमों की प्रचुरता है, जो अगर इसकी ताकत है, तो कमजोरी भी। हालाँकि संपादक का मानना है कि इसमें अतिरेक कहीं नहीं है, लेकिन अत्यन्त भव्य और कलात्मक दृश्यपटों के बाजवूद ऐसी कृतियाँ लोकप्रिय चाहे जितनी हों, मगर कालजयी होती हैं या नहीं, यह कहना मुश्किल है।

रेणु का 'तीसरी कसम उर्फ मारे गए गुलफाम' हिंदी कथा-जगत् में एक अद्‌भुत शिखर है और एक अविस्मरणीय सच्ची कालजयी कृति है। ऐसी कृति, जो रचनाकार की ख्याति लाँघ जाती है। गँवई बोली का ऐसा सफल प्रयोग हिंदी में पहली बार देखने को मिला था, जो इसकी पठनीयता में चार चाँद लगाता है। कहानी एक सुरीले गीत सरीखा प्रभाव छोड़ती है और सुर एक बार पढ़ने के बाद पाठक के मन-मस्तिष्क में आजीवन गूँजता रहता है। स्वाभाविक है कि संपादक ने दो पृष्ठों से अधिक विस्तार में इसका विवेचन किया है। भारती की 'गुलकी बन्नो' में भी कालजयी कहलाने की पात्रता है और विक्टर ह्यूगो के 'हंचबैक ऑफ नौटरडम' को भी यह पीछे छोड़ देती है। दोनों के केन्द्रीय पात्र निम्नमध्यवर्ग के किरदार थे और पीठ पर कूबड़ अर्थात् जन्मजात शारीरिक विकृति का बोझ ढोने को अभिशप्त थे, न्यूनतम प्राप्य मानवीय सहानुभूति से वंचित। मोहन राकेश की 'मिस पॉल' को इस संकलन में स्थान मिला है। यह निःसन्देह राकेश एवं समग्र हिंदी कथा-साहित्य की श्रेष्ठतम रचनाओं में से एक है, जिसके केन्द्र में एक अकेली स्त्री है और बिना भावुकता में डूबे उसके एकाकीपन की पीड़ा का बेहद प्रभावशाली वर्णन है। यह दूसरी बात है कि राकेश ने कुछ और ऐसी कहानियाँ लिखी हैं, जो इससे उत्कृष्ट नहीं तो कमतर भी नहीं हैं। कमलेश्वर की 'राजा निरबंसिया' एक बेमिसाल रचना है और इसकी रुमानियत कच्चाई नहीं लगती, बल्कि झकझोर कर रख देती है और इसका जादू अभी तक नहीं टूटा है, जबकि संपादक एक ओर जहाँ कहते हैं कि आज भी इसकी ताजगी खत्म नहीं हुई, वहीं वे इसकी अनगढ़ता और इसका जादू टूटने की भी बात कहते हैं। अकेलापन आधुनिक जीवन-शैली का शाप है और वही निर्मल वर्मा की अन्य कहानियों की तरह संकलन में अन्तर्भुक्त 'परिंदे' कहानी की अन्तर्वस्तु है। हर दृष्टिकोण से कालजयी कथाओं की सूची में शामिल होने की अधिकारी यह कहानी पाठकों के जेहन में हमेशा बनी रहेगी एवं इसके चयन के बिना संकलन अधूरा रह जाता।

हिंदी कहानी-उपन्यास की बात हो और अमरकान्त याद न आएँ, ऐसा हो नहीं सकता। 'जिन्दगी और जोंक' समाज के अन्तिम पायदान, बल्कि समाज के तहखाने में जीने वाले किरदार की कहानी है, जो हमारे चतुर्दिक् बिखरे पड़े हैं। इन कालजयी कहानियों की फेहरस्ति में भी इसका स्थान विशिष्ट है और ऐसी एक कृति ही लेखक को अमर बना सकती है। मानवीय जिजीविषा और सामाजिक-आर्थिक विषमता के यथार्थवादी धरातल पर लिखित इस कहानी ने न सिर्फ हिंदी कथा-साहित्य को, बल्कि पूरे भारतीय कथा-साहित्य को विश्व-साहित्य के समकक्ष ला खड़ा किया है। शिवप्रसाद सिंह की 'नन्हों', संकलन में शामिल अन्य कृतियों की तरह शायद उतनी चर्चित या पठित न हुई हो, मगर आदर्शवादिता के पुट के बावजूद बेशक श्रेष्ठतम हिंदी कहानियों में से एक है और इसे इस पुस्तक में स्थान नहीं देना एक विलक्षण कहानी के साथ अन्याय होता। शेखर जोशी की 'कोसी का घटवार' बर्छे की तरह बेधनेवाली अनुपम कहानी है और उपसंहार की अन्तिम पंक्तियाँ पाठक को स्तब्ध कर देने की क्षमता रखती हैं। वस्तुतः यह एक अत्यन्त सक्षम कथाकार की कालजयी रचना है और इस बात का ज्वलंत साक्ष्य है कि एकाकीपन सिर्फ महानगरों में नहीं, गुमनाम गाँवों और कस्बों में भी आज के आदमी की नियति बन चुका है। बिना शहरी पृष्ठभूमि का सहारा लिए शेखर जोशी ने अकेलेपन के त्रास को लाजवाब ढंग से उकेरा है। मन्नू भण्डारी की 'यही सच है' में प्रेम-त्रिकोण में उपजते मनोवैज्ञानिक द्वन्द्वों का बारीक और यथार्थवादी सन्तुलित चित्रण है। प्रेम का त्रिकोण अमूमन कथा-साहित्य या नाटकों-फिल्मों की घिसी-पिटी थीम है, मगर जिस अद्‌भुत कुशलता से लेखिका ने इस पर कलम चलाई है, वह इसे सर्वकालीन सर्वश्रेष्ठ कहानियों की पाँत में शुमार कराने के लिए काफी है। आखिरी कहानी उषा प्रियंवदा की 'वापसी' है। एक लाजवाब कहानी यथार्थ और बारीक किस्सागोई के तत्त्वों से भरपूर। यह किस्सा आम इन्सान के जीवन की कथा है। कहीं से अतिरंजना की शिकार हुए बिना जिस कुशलता से कहानी चलती है, वह प्रेमचंद की परम्परा को आगे बढ़ाती है, संपादक का यह कथन सही है। परम्परागत पारिवारिक ढाँचे के विघटन की यह कहानी अत्यन्त परिपक्व ढंग से प्रस्तुत हुई है और मर्म को छूती नहीं, छेड़ती है। इसकी भी इन श्रेष्ठ कहानियों में अहम जगह है।

कुल मिलाकर कहानियों का चुनाव लगभग सन्तुलित है और एक साथ इतनी श्रेष्ठ कहानियों को समेटकर उन्हें उन पर विमर्श के साथ पाठकों तक पहुँचाने का प्रयास सराहनीय है। वैसे क्लासिक कहानियाँ और भी अनेक हैं। और इस प्रस्तुति में से कुछ के बेहतर विकल्प भी हिंदी साहित्य के भण्डार में मौजूद हैं।

हिंदी की कालजयी कहानियाँ : संपादक : नंदकिशोर नवल और तरुण कुमार; दानिश बुक्स, 26बी, स्काईलार्क अपार्टमेंट, गाजीपुर, दिल्ली-110096, मूल्य : 495 रुपये।

लालगंज, वैशाली (बिहार)

प्रगतिशील हिंदी आलोचना

ओम भारती

कोई तीन दशक पूर्व श्याम कश्यप की आलोचना-पुस्तक के सन्दर्भ में हरिशंकर परसाई ने लिखा था–''पिछले सालों से आम आलोचकों के मानसिक आलस्य के कारण आलोचना में रिफ्लेक्स आने लगे है।। नए चिन्तन की कमी होती गई है। कुछ शब्दों का इतना अधिक सन्दर्भहीन उपयोग होने लगा है कि यह निर्णायक आलोचना बन गया है।...आलोचना के मुहावरे पहले से तय हैं। पूर्वाग्रह-विहीन हो रचना का तत्त्वतः परीक्षण कम होता गया है। यह जड़ता काफी आलोचकों में आ गई है।'' परसाईजी का कथन हमारे आज के आलोचना-परिदृश्य पर भी यथावत् लागू होता है। इसलिए जब कोई नया आलोचक आता है, तो उसकी तरफ ताकती एक उम्मीद भी आती है। एक अपेक्षा भी, कि कदाचित् वह संवाद, विवाद और विमर्श के नए गवाक्ष खोले।

डॉ. मृत्युंजय सिंह हिंदी के युवा प्रगतिशील आलोचक हैं। उनके गद्य की एक किताब 'कवियों की कहानियाँ : एक मूल्यांकन' पहले आ चुकी है। उनकी समीक्षाएँ, आलेख व कविताएँ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। इस किताब में उन्होंने प्रगतिवादी आलोचना के इतिहास में जाकर कुछ महत्त्वपूर्ण साहित्यिक विवादों और विमर्शों का अध्ययन किया है। कुछ खास स्थापनाओं के आधार पर टटोले हैं, और उन पर अपना गंतव्य भी सामने रखा है। पुस्तक की भूमिका में वे लिखते हैं–'मेरे इस कार्य से पाठकों के मन में प्रगतिशील आन्दोलन के इस पॉलिमिक्स का यदि कोई स्वरूप उभरकर सामने आया या प्रगतिशील हिंदी आलोचना के विकास में इन 'डिबेट्स' का कोई महत्त्व स्थापित हो सका, तो मैं अपना श्रम सार्थक समझूँगा।' यहाँ उनके कुल सोलह आलेख संकलित हैं। इनके विषय बहुत जाने-पहचाने हैं। ये हैं– कला और विचारधारा, साहित्य और समाज, प्रगतिवाद बनाम प्रयोगवाद, परम्परा का बोध और परम्परावाद, पक्षधरता और प्रतिबद्धता का प्रश्न, साहित्य के स्थायित्व का प्रश्न, प्राचीन साहित्य का मूल्यांकनवाद, पक्षधरता और प्रतिबद्धता का प्रश्न, साहित्य के स्थायित्व का प्रश्न, प्राचीन साहित्य का मूल्यांकन, यथार्थवाद और आधुनिकतावाद का द्वन्द्व, मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र और यथार्थवाद, रूपवाद और अरूपवाद, काव्यभाषा का प्रश्न, आलोचना का दायित्व इत्यादि।

पहले आलेख में लेखक ने 'प्रगतिशील कविता के आरम्भ का प्रश्न' उठाया है, और प्रगतिशील काव्य-यात्रा के प्रस्थान-बिन्दु को किसी कवि-विशेष से न जोड़कर, काल-विशेष

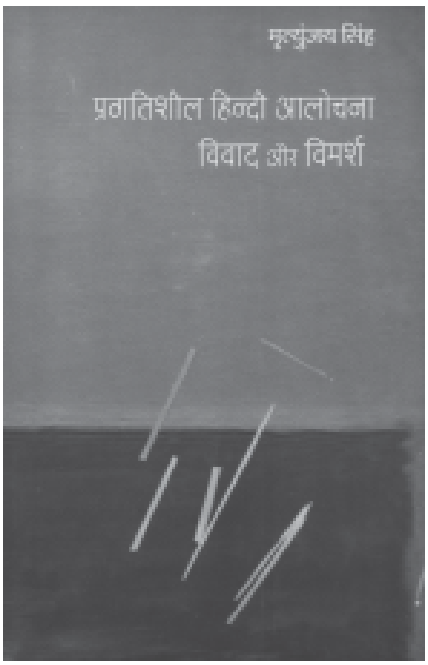

से सम्बद्ध करके सन् 1930 को आरम्भिक काल के रूप में स्वीकार करने का प्रस्ताव किया है। इस समझ में संकीर्णता नहीं है। इसमें समावेशी युक्ति के साथ-साथ फलक की व्यापकता है। वे प्रगतिशील धारा में पंत और निराला ही नहीं, माखनलाल चतुर्वेदी, नवीन, दिनकर वगैरह को भी अंगीकार करते हैं। कट्टरता से यह परहेज छायावाद के यथार्थवादी और क्रान्तिकारी पक्ष के आदर में है। पंत एवं निराला दोनों ही जनवादी हैं, शोषित जन के साथ हैं। एक जवाबदेह सामाजिकता से प्रेरित रचनाकार के रूप में जनमार्ग पर चलना ही उन्हें अभीष्ट रहा। यह सच आज भी ग्राह्य है, मान्य है। प्रगतिशील परम्परा एवं प्रतिबद्धता दोनों से समृद्ध होकर ही आधुनिकता सार्थक बन पाती है। कई हजार वर्षों के बीहड़ आचार-व्यवहार की कसौटी पर भी खरा हो, तभी जीवन-दृष्टि और मूल्य-दृष्टि का सैद्धान्तिक ढाँचा खड़ा होता है। यदि आप अपनी उर्वर-परम्परा को नहीं समझते, अपने जातीय स्वत्व के रूबरू नहीं होते, तो आधुनिकता और उत्तर आधुनिकता के सामने हथियार डाल ही देंगे। हिंदी भाषा तथा साहित्य के जो प्रगतिशील सन्दर्भ हैं वे हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन में जनवादी भावना को एक निश्चित दिशा देने वाले रहे हैं। इसी तर्क से माखनलाल चतुर्वेदी के नेतृत्व में दिनकर-नवीन-सुभद्रा कुमारी चौहान वगैरह की वास्तविक जगह प्रगतिशील परम्परा में ही बनती है। कविताओं में ही नहीं, कर्मवीर के संपादकीय अग्रलेखों में भी माखनलाल जी का प्रगतिशील सोच समाया हुआ है। नवीन, दिनकर एवं कुछेक अन्य समकालीनों में भी इसी विचार की सरणि स्पष्ट है। कुछ यही बात 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ'

में डॉ. नामवर सिंह ने भी लिखी थी। वैसे भी कोई बड़ा वैचारिक आन्दोलन अपने समय और समूह की उपज होता है, किसी व्यक्तिमात्र की नहीं। कोई विचार किसी ऐतिहासिक चरण में अभियान की शक्ल ले लेता है, और यह बात प्रगतिशील विचार के साथ भी सच होना चाहिए।

दूसरा आलेख–'प्रगतिवाद : स्वदेशी या विदेशी।' इसमें लेखक विभिन्न मतों को उद्धृत करके यह स्थापित करता है कि हमारे यहाँ प्रगतिवाद यहीं पनपा है। वह बाहर से आयातित नहीं है, जैसा कि दुष्प्रचारित है। भारत की आर्थिक-सामाजिक परिस्थितियाँ थीं ही ऐसी कि उनमें शोषण का विरोध एवं समता का स्वप्न एक व्यापक आन्दोलन बनता गया। यह ठीक सोच है। इस आन्दोलन के पीछे रूसी क्रान्ति की प्रेरणा थी, किन्तु इससे जुड़े रचनाकार अपने देश की परिस्थितियों से निरपेक्ष नहीं थे। वे समाज-व्यवस्था में नए परिवर्तन के लिए आधार-भूमि तैयार होते देखना चाह रहे थे। हमारे यहाँ तो आज भी सामंतवाद हावी है, और आधुनिकता या उत्तरआधुनिकता ने मात्र परिधि का स्पर्श किया है। कलावादियों और बाजारपरस्तों की जी-तोड़ मेहनत पर पानी फेरती हुई प्रगतिशील कविता ही हिंदी-काव्य की मुख्यधारा बनी हुई है। वह भी हिंद की सरजमीं से ही अपना दाना-पानी, अपने पोषक-तत्त्व लेती है, आयातित 'फूड चेन' के भरोसे नहीं है। मृत्युंजय साबित करते हैं कि हिंदी कविता में भी यथार्थवाद के विकास की एक तार्किक परिणति है। वादी, संवाद और प्रतिवादी स्वर हर समय होते हैं। सचेत रचनाकार को यथार्थवाद के अतीत के अहम सन्दर्भों में जाते रचना चाहिए, ताकि आगे के लिए भी आलोक मिले।

'जनता का साहित्य किसे कहते हैं'– इस विषय पर मुक्तिबोध ने भी चिन्तन किया था। इसी तरह 'समाज और साहित्य' तथा 'प्रगतिवाद', 'एक दृष्टि' शीर्षक से भी मुक्तिबोध के लेख रचनावली में उपलब्ध हैं। 'वाद-विवाद- संवाद' के लेखक एवं शीर्षस्थ आलोचक नामवर सिंह का भी कथन है– ''मूल्यवान है एक भी ऐसे आलोचक का होना जो किसी भी चीज को तब तक अच्छा न कहे, जब तक उस निर्णय के लिए वह अपना सब कुछ दाँव पर लगाने को तैयार न हो।'' रचना के साथ एक सर्जनात्मक मुठभेड़ के बिना ऐसा आलोचक नहीं बनता। इसी प्रकार रचनाकारों व समीक्षकों को मार्क्सवादी विचार की समग्रता का ज्ञान होना चाहिए, अन्यथा उनमें वह साहस नहीं होगा, जिससे संघर्षों की निश्चयात्मक तैयारी होती है। मनुष्य की इतिहास यात्रा में निरन्तर गतिशील और तथैव प्रगतिशील बने रहने के लिए जरूरी है कि बहसें हों, सहमतियाँ-असहमतियाँ हों, मंथन हो, विचार और पुनर्विचार हों। मार्क्सवादी क्रान्तिकारिता को चेतना में पूरी तरह उतारने के लिए मार्क्सवाद की साहित्येतर निष्पत्तियों में भी गहरी दिलचस्पी और जानकारी जरूरी होती है। सालभर से ज्यादा चली वैश्विक मंदी ने विकास के पूँजीवादी दावों की पोल खोल ही दी है।

किताब के ब्लर्व में यह ठीक ही दर्ज है कि यह पुस्तक प्रगतिशील आन्दोलन के पूरे साहित्यिक विवादों का इतिहास नहीं है, बल्कि कुछ महत्त्वपूर्ण विवादों का वस्तुनिष्ठ अध्ययन, विश्लेषण और मूल्यांकन करने का प्रयास इसमें किया गया है। यह स्वीकारोक्ति विनम्र है, क्योंकि किताब कविता की आलोचना पर ही ज्यादा ठहरी है। प्रगतिशील कहानी, उपन्यास, नाटक आदि विधाएँ, उनके विवाद, इसकी केन्द्रीयता के बाहर ही हैं। फिर ये आलेख अध्ययन ही हैं। नामवरजी की स्थापनाओं की पुष्टि करना ही इसका उद्देश्य प्रतीत होता है। विश्लेषण एवं मूल्यांकन की ज्यादा बड़ी अंशिता यहाँ अपेक्षित थी। लेखक के अपने सोच और तर्कों को और अधिक जगह लेनी चाहिए थी, क्योंकि मृत्युंजय छाँह से उबरकर स्वयं एक स्वतन्त्र व्याख्याकार हो सकते हैं। तथापि लीक से हटकर आई इस किताब को न केवल पढ़ा जाना चाहिए, बल्कि इन बहस-मुबाहसों को नई रोशनियों में जाँचना भी चाहिए।

'डॉ. रामविलास शर्मा और हिंदी जाति की अवधारणा' एक महत्त्वपूर्ण विषय है और यह आलेख हिंदी भूगोल में साम्प्रदायिकता के बरक्स जातीय अवधारणा के महत्त्व को रेखांकित करता है। किन्तु हमें सावधान रहना होगा कि यह विचार अन्य भारतीय भाषा-जातियों के विरुद्ध एक संकीर्णतावाद की शक्ल न ले ले। इसी तरह परम्परा और परम्परावाद का मसला भी संवेदनशील है। परम्परा हमारी मार्गदर्शक यानी 'गाइड' हो, वहाँ तक तो ठीक है, पर वह हमारी 'जेलर' न बन बैठे, जैसा कि सॉमरसेट मॉम ने कहा था। पॉलीमिक्स के तो फायदे हो सकते हैं, किन्तु उसे तूल देना ठीक नहीं। रचना के बजाय रचनाकार को निशाना बनाना किसी आलोचक की सरलीकृत राजनीति हो सकती है, आलोचना की नहीं, और न ही वह आलोचना होती है।

प्रगतिशील हिंदी आलोचना : विवाद और विमर्श, मृत्युंजय सिंह, शिल्पायन, 10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032, मूल्य 160/-

221/9बी, साकेत नगर, भोपाल (म.प्र.) 462624, मो. 09425678579

मजाज़ की यादें

अर्पण कुमार

तरक क ीपसन्द शायरोंमेंशुमार किए जानेवालेइसरारुल हक 'मजाज ' का जन्म 1911 में हुआ था और 1943 में 32 वर्ष की उम्र में उनका संकलन 'आहंग' प्रकाशित हुआ था। ये वही 'मजाज ' हैं जिन्होंने कहा था :

'जि न्दगी क्या है गुनाहेआदम
जि न्दगी है तो गुनहगार हूँ मैं
कुफ्रो इलहाद से नफ रत है मुझे
और मज हब से भी बेज ार हूँमैं

अपनी अल्पायु में जीवनानुभवों के कई तल्ख़ उतार-चढ़ाव देख चुके मजाज एक बड़े शायर रहे हैं। उनकी लोकप्रियता का अन्दाज ा इसी से लगाया जा सकता है कि उनकी नज म अलीगढ़ यूनिवर्सिटी का तराना बनाई गई। प्रस्तुत पुस्तक 'यादें' की लेखिका हमीदा सालिम उन्हीं मजाज साहब की छोटी बहन हैं और उस दौर को याद करती हुई अपने ज ज बात को बयां करती हैं, ''बहन के नाते मैं अलीगढ़ के तुल्बा व तालिबात की शुक्रगुज ार हूँ, उन्होंने अपने इदारे के साथ इसरार भाई के साथ इस बेपनाह मोहब्बत व अक ीदत की क द्र की और इस नज म को यूनिवर्सिटी का तराना बनाया। जब यूनिवर्सिटी के नौजवान पूरी उमंग और तरंग से ये तराना सुनाते हैं, महफि ल झूम उठती है और इन अशआर पर ईमान-सा आने लगता है'' :

जो अब्र यहाँ से उट्ठेगा, वो सारे जहाँ पर बरसेगा,
हर जूए रवाँ पर बरसेगा, हर कोहे गरां पर बरसेगा।

हर शहरे तरब पर गरजेगा, हर क स्रे तरब पर कड़केगा
ये अब्र हमेशा बरसा है, ये अब्र हमेशा बरसेगा।

'यादें', हमीदा की 1995 में मूल रूप में उर्दू में प्रकाशित पुस्तक 'शोरिश-ए-दौरां' का हिंदी लिप्यांतरण हैं। गो, पुस्तक के ब्लर्व पर इसे हिंदी अनुवाद बताया गया है, मगर उर्दू यहाँ जिस तरह अपनी पूरी खुसूसियात और खानगी के साथ हिंदी की हमकदम बनी दिखती है, इसे उर्दू का हिंदी लिप्यांतरण कहना ही मुनासिब होगा। लेखिका का भावप्रवण एवं लयात्मक अन्दाज -ए-गुफ्तगू अपने तईं प्रभावित करता है और 304 पृष्ठों की इस पुस्तक में व्यक्तिचित्र, संस्मरण, यात्रावृत्तांत आदि साहित्य की कई विधाएँ परस्पर गूँथी हुई हैं। साथ ही, भारत के कई महत्त्वपूर्ण राजनीतिक/अकादमिक प्रसंग स्वयं लेखिका और उसके परिवार की निजी कहानियों से

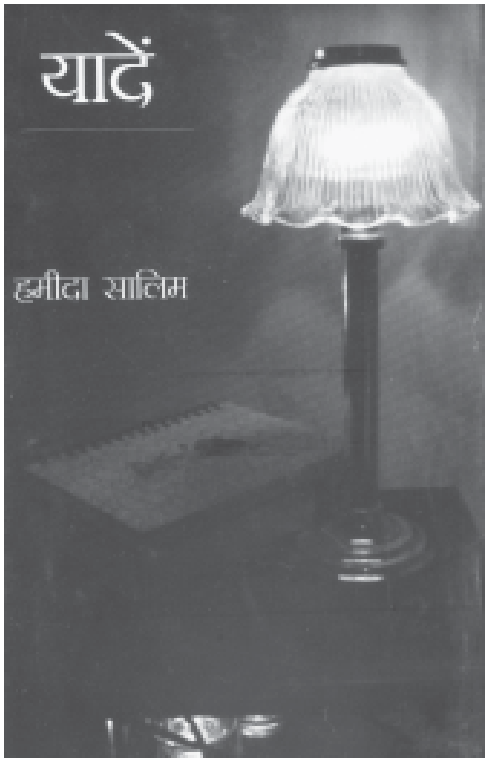

निकलकर आए हैं। गोया यह कि दस्तावेजी महत्त्व के ऐसे कई जरूरी ऐतिहासिक प्रसंग यहाँ देखने को मिल सकते हैं जो साधारणतः अन्यत्र मुश्किल और इतने टटके न हों। हमीदा की भाषा न केवल सधी हुई है बल्कि उनके परिपक्व नज रिए की गवाह भी है। यदि यहाँ एक तरफ सामंती, जमींदारी प्रथा के क्रमशः ढहते/गिरते रसूखात का चित्रण है तो दूसरी तरफ बदलते वक त के साथ ज मींदार परिवारों की नई पीढ़ियों में अपने विकास और भविष्य को लेकर नए क्षेत्रों में हाथ आजमाने की पहल और उसमें सफल होने की चिन्ता भी है। यहाँ इसका जिक्र करना मुनासिब है कि इस पुस्तक में मजाज के प्रसंग उसी विशिष्ट दौर के महत्त्वपूर्ण हिस्से के रूप में आए हैं और पुस्तक के इस अध्याय 'अनमिट नक़ूश' तक सीमित हैं जिसमें लेखिका ने मजाज सहित अपने खानदान के दूसरे लोगों, खासकर स्वतन्त्रता-संग्राम में सक्रिय, दो बार सांसद रहे और बिफोर फ्रीडम एण्ड आफ्टर' (Before Freedom and After) के लेखक सियासत-पसन्द अपने भाई असरारुल हक 'मजाज ' और अपने पत्र-संग्रह 'जे रे लब' और 'हफ ी आशना' और लेखों के संकलन 'अन्दाज ी नज र' के लिए उर्दू अदब में चर्चित रहीं और एक दुर्लभ बीमारी 'स्केलोडरमा' से ग्रस्त असमय मौत की शिकार हुईं अपनी बहन सफिया अख्तर (जांनिसार अख्तर की पहली बीवी) के बारे में चर्चा की है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अपने शायर भाई 'मजाज ' के बेवक त इंतकाल पर हमीदा ने एक चर्चित मज मून 'जग्गन भैया' लिखा था, जिसके बारे में सुग रा मेहदी की यह टिप्पणी काफी मौजूँ है, ''यह एक नसरी मरसिया है, जिसमें 'मजाज ' की शख़्सियत का बहुत ख़ूबसूरत तजजि या है।

'इस्मत चुग ताई' ने 'दोज खी' लिखकर अपने भाई 'अज ीम बेग चुग ताई' को अमर कर दिया तो हमीदा सालिम ने भी 'जग्गन भैया' उससे बिल्कुल मुख़तलिफ अन्दाज में लिखकर 'मजाज ' को अमर किया है।'' निश्चय ही 'मजाज' को एक शायर के रूप में काफी शोहरत मिली मगर मुहब्बत और कैरियर की हारी हुई बाजी को भूलने की कोशिश में शराब को अपना हमराज बना चुके ख्वाबपसन्द शायर के दिलो-दिमाग पर पल-पल गहराते अँधेरे को एक बहन के अलावा कौन उतने सखा भाव से और साथ ही निस्पृह होकर चित्रण कर सकता है! पाठको! ये वही 'मजाज ' हैं, जिनके यहाँ मुहब्बत की दुनिया एक आदमी के खुद तक सिमट रह जाने की दुनिया नहीं है, बल्कि उसमें वक त के तूफान को झेल सकने की हिम्मत और आम लोगों के दर्द की चिन्ता शामिल है। उनका एक शे'र है–

'अपनी हस्ती का सफ ीना सूयेतूफाँ कर लें
हम मोहब्बत को शरीकेग मे-इन्साँ कर लें'

मगर इसे एक आयरनी ही कहा जा सकता है कि उसी 'मजाज ' का दयनीय और एकाकी अन्त हुआ। हमीदा ने 'मजाज ' के बहाने जीवन, वक त और हालात के भँवर में पिसते, तरक कीपसन्द और खुली सोच के नौजवान शायर के बड़े मंसूबों के ढेर होते जाने की एक प्रतिनिधि-गाथा कही है।

'अनमिट नक़ूश' अध्याय में ही लेखिका अपने दूसरे भाई असरारुल हक 'मजाज ' के राजनीतिक सफ रनामे के बारे में लिखती हैं जो कभी फारवर्ड ब्लॉक के तीन सचिवों में एक हुआ करते थे और राजनीतिक हलके में अंसार हरवानी के नाम से प्रसिद्ध थे। इन्हीं अंसार भाई के यहाँ मुस्लिम लीग के खजांची राजा मेहमूदाबाद और सुभाष चन्द्र बोस की बैठक हुई थी, हालाँकि मुहम्मद अली जिन्ना को साथ रखने की नेताजी की कोशिश कामयाब नहीं हो पाई। अंसार भाई की बेमेल शादी, उनकी शराबनोशी की आदत और अपने क द के मुताबिक आज ाद भारत की सियासत में अपनी मुकम्मल जगह न पाना–ऐसे कई प्रसंग हैं, जहाँ हमीदा का बहनापा उनके लेखन में उतरता है। असरारुल हक 'मजाज ' को लेकर वे टिप्पणी करती हैं, ''उनके देखते-देखते लोग कहाँ-कहाँ पहुँच गए। उनकी पेशानी पर एक बल न आया। लगता है कि आज ादी की जद्दोजहद में जो कुरबानियाँ दीं, वही उनकी तस्कीन के लिए काफ ी हैं। जब कुरबानियाँ मुआवज े के तहत न की गई हों तो मुआवज ा न मिलने पर शिकवा कैसा! वैसे सच्ची बात है, बहुत हद तक शराबनोशी उनकी राह में हाइल रही।'' इसी अध्याय में लेखिका अपनी बहन सफि या और उनके शौहर जांनिसार अख़्तर के आपसी सम्बन्धों के उतार-चढ़ाव को दिखलाती हैं, जहाँ अख़्तर की सफिया के प्रति बरती जाने वाली उदासीनता (सफिया की बीमारी के गम्भीर दिनों में भी) के कई प्रसंग बिखरे पड़े हैं। वहीं अपनी सारी अना और तहज ीबी सलाहियत के बावजूद सफिया ने अन्त-अन्त तक जांनिसार के प्रति अपनी रागात्मकता बनाए रखती और एक ऐसा भी दौर था जब वे अपने और अपने बच्चों की जरूरत कम-से-कम में पूरी कर अपने वेतन का एक बड़ा हिस्सा जांनिसार अख्तर को उनके संघर्ष के दिनों में मुम्बई मनिऑर्डर किया करती थीं। हाँ, यह दीगर है कि अख्तर को उनके जाने के बाद उनके होने का मोल समझ में आया, उनके भावों में एक अपेक्षित गहराई (जिसके लिए वे जाने जाते है। और जिसकी शायरी में गहराई देखने का मंसूबा स्वयं सफिया ने भी पाला हुआ था) भी आई। इसके लिए 'ख़ामोश आवाज ' में अपनी दूसरी बीवी के नाम अख़्तर के लिखे ख़त पढ़े जा सकते हैं। हमीदा यहाँ भी भावुक हो उठती हैं, ''काश, ये तब्दीली सफि या आपा की जि न्दगी में आई होती। शौहर की शायरी ने भी बुलन्दी छुई तो उनकी मौत के बाद।''

'आँचल और परचम का मिलाप' भी पुस्तक का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय है, जिसमें स्वयं हमीदा और उनके शौहर सालिम के ऊपर पारिवारिक जिम्मेवारियों के बोझ, उन दोनों के अपने-अपने अकादमिक कैरियर के संघर्ष, अपने बच्चों सहित सफिया-अख़्तर के दोनों बेटों जादू (जावेद अख़्तर) और अवेस (सलमान अख़्तर) की बढ़िया परवरिश की चिन्ता, उनके बचपन की शैतानियों और अपनी आर्थिक सीमाओं के साथ घर चलाने की जद्दोजेहद आदि कई मसलों का जिक्र है। निश्चय ही, हमीदा घर बसाने से लेकर घर चलाने के हर जरूरी मोड़ पर सालिम के साथ खड़ी नज र आती हैं और अपने भाई 'मजाज ' के इस 'शे'र में छिपी हसरत और उम्मीद को चरितार्थ करती हैं–

'तेरे माथे पर आँचल बहुत ही ख़ूब है लेकिन,
तू उस आँचल के इक परचम बना लेती तो अच्छा था।'

कहने की ज रूरत नहीं कि इस चैप्टर का उनवान इस शे'र को एक सलाम है। माँ की ममता और पिता के साए से वंचित दोनों बच्चों (जावेद और सलमान अख्तर) के बाल-किशोर मन के कई चित्र खींचे गए हैं जहाँ उनके नटखटपन और भटकाव के पीछे उनकी सहज चंचलता के रंग हैं, वहीं पिता के प्यार को इश्क की हद तक पाने की छटपटाहट और उसमें असफल होने पर अपने हिस्से के संघर्ष चुपचाप सह लेने की काबलियत और अपनी प्रकृति के अनुसार अपना मुकाम हासिल करने का दम भी है। कहने की ज रूरत नहीं कि आज दोनों अपने-अपने क्षेत्र में एक बड़े नाम हैं। इसी अध्याय में गांधी की हत्या के बाद लखनऊ में उत्तरप्रदेश की तत्कालीन गवर्नर सरोजनी नायडू की सदारत में हुए एक ताज ियती जलसे का जिक्र है, जिसमें करामत हुसैन कॉलेज की नुमाइंदगी करते हुए हमीदा ने इस नृशंसता पर अपना आक्रोश व्यक्त करते हुए कहा था, ''माज ी पर आँसू बहाना उसी सूरत में मुफ ीद होता है, जब वो मुस्तक़ि बल की धूल धोने और उजागर करने में मददगार हों।'' लेखिका की ये भावप्रवण बातें नायडू के दिल को छू गईं। कह सकते हैं कि हमीदा की भाषा की लय जि न्दगी की वास्तविकता से दो-चार होती निर्मित है, इसलिए गाहे-बगाहे उनके अन्दर से जीवन के तजुर्बात बाहर आ जाते हैं, फिर चाहे उनका लेखन हो या उनकी तकरीर। विभिन्न अकादमिक उठापटक और पारम्परिक बन्दिशों के बीच लड़कियों/स्त्रियों की शिक्षा, अना और उनकी आर्थिक स्वतन्त्रता के सवाल को वे बिना किसी नारेबाज नारीवाद के उठाती हैं। इसी अध्याय में वे डॉक्टर अलीम, डॉ. नुरूल हसन और डॉ. डी.पी. मुखर्जी जैसी शख्सियतों के व्यक्ति-चित्र भी खींचती हैं।

'बातें गए दिनों की' और 'यादों के साये' जैसे अध्यायों में जहाँ रुदौली, अलीगढ़ में अपनी भाइयों, कुनबे और दोस्तों के साथ गुजरे लेखिका और दूसरों के बचपन और किशोरावस्था के चित्रण हैं, तालिब और रवायत की शुरू से जमाई गई गहरी जड़ों का जिक्र है

वहीं 'बस्ती-बस्ती, देस-बिदेस' और 'जहाँ दर जहाँ' जैसे अध्यायों में सोलह साल के लगभग वतन से बाहर रहते हुए सूडान, इथोपिया, इंग्लैण्ड, अमेरिका सहित कई देशों के हिस्से और उनके सांस्कृतिक-आर्थिक प्रसंग भरे पड़े हैं। देश-विदेश कहीं का चित्रण हो, लेखिका के पास एक तुलनात्मक विश्लेषण-दृष्टि है। जो व्यक्ति के अनुभव के लम्बे समय तक परिपक्व होने के बाद शब्दबद्ध होने की गवाही और उसकी व्यक्तिगत जानकारी की विविधता और एक भरी-पूरी दुनिया से गुजरने का उसका हासिल भी है। हमीदा विभिन्न देशों की संस्कृतियों की तुलना बिना किसी सरहदी/मज हबी पूर्वाग्रह के करती हैं और खुली नज र और उदार मन से संस्कृति की सापेक्षता को समझती हैं। एक तरफ बतौर भारतीय उन्हें अपनी ज़ात पर नाज है तो दूसरी तरफ यहाँ मौजूद शारीरिक श्रम के प्रति हेयता, अमीरी-गरीबी की खाई, दिखावे की जीवन-शैली आदि से कुढ़न भी है। 'गोशए आफि यत' अध्याय को पुस्तक के उपसंहार के रूप में देखा/पढ़ा जा सकता है।

कह सकते हैं कि कुल सात अध्यायों में बँटी 'यादें' एक लम्बे काल-खण्ड को खुद में समाए, समय और समाज के कई पड़ावों/मोड़ों को छूते हुए एक पूरे दौर को हमारे सामने ला खड़ा करती है। हमीदा के अन्दर बहता यादों का दरिया उर्दू की मिजाजगत नरमगी में उतरकर खानगी भरा, प्रभावकारी एक भाषाई ब्लैंड बनाता है। हाँ, मुश्किल उर्दू शब्दों के अर्थ दिए जाने से (यद्यपि कई शब्दों के आगे फुटनोट के लिए अंक दिए गए हैं, मगर उनके अर्थ नदारद हैं) हिंदी के आम पाठकों को इसके रसास्वादन में बेशक कुछ आसानी होती। यदि आप अली सरदार जाफरी की पुस्तक 'लखनऊ की पाँच रातें' को भी इस क्रम में पढ़ें तो पता चलेगा कि मजाज जैसे बड़े शायर का इन्तकाल कितना दुखद हुआ।

यादें, हमीदा सालिम, अनुवादक : परवेज ग ौहर, प्रकाशन संस्थान, 4715/21, दयानन्द मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-2, मूल्य : 350.00 रुपये

अर्पण कुमार, द्वितीय तल, क.287, नेहरू विहार, तिमारपुर के समीप, दिल्ली-110054, मो. 0-9891761030

संस्मरण

बेदिल दिल्ली की मुख्तसर तस्वीरें

सुभाष शर्मा

निर्मला जैन की सद्यः प्रकाशित पुस्तक 'दिल्ली शहर दर शहर' का पहला अध्याय है–कहो, 'दिल्ली कहाँ'। पहले पुरानी दिल्ली के कश्मीरी गेट, अजमेरी गेट, लाहौरी गेट और दिल्ली गेट को जोड़ने वाली फसीलों को ही दिल्ली माना जाता था। शेष के लिए बेगानेपन का भाव रहता था। यूँ यह ठीक लगता है कि अजमेरी गेट, कश्मीरी गेट और लाहौरी गेट का नामकरण उधर जाने वाली सड़कों के कारण हुआ था मगर मोरी गेट और तुर्कमान गेट के मामले में यह तर्क खरा नहीं उतरता। लेखिका ने यह सही लिखा है कि विभिन्न धर्मों के शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व का सबसे सटीक उदाहरण चाँदनी चौक की लालकिले से फतेहपुरी जाने वाली सड़क पर स्थित जैन मंदिर, गौरीशंकर मन्दिर, चर्च, गुरुद्वारा और मस्जिद है। फिर फतेहपुर मस्जिद के पास सिंधी हलवाई की दुकान पहले कराची के हलवे के लिए मशहूर थी, अब 'गुझिया' और 'घेबर' के लिए मशहूर है। मगर यह इतना सीधा मसला नहीं है। कराची के पाकिस्तान में चले जाने के बाद यदि कोई दुकानदार उसके नाम पर कोई चीज बेचना चाहे, तो वह शायद ही बिकेगी और उल्टे उसे लोग शक की निगाह से भी देखेंगे। कुछ दक्षिणपंथी लोग उसे तंग-ओ-तबाह भी कर सकते हैं। कहने का आशय यह है कि धंधा का कंधा झण्डा (पहचान) पर टिका होता है। यदि उसकी छवि नकारात्मक होगी, तो निश्चित रूप से धंधा चौपट हो जाएगा। मगर लेखिका ने इस टीस का खुलासा नहीं किया है।

खैर...आजादी के बाद की तमाम पीढ़ियों ने चाँदनी चौक में चलने वाली ट्राम नहीं देखी जो अभी भी कोलकाता में चलती है, जिस पर कोई भी चलते-चलते चढ़ सकता है। दिल्ली वाले उससे भले वंचित हुए हों, मगर वे अब मेट्रो रेल का अकल्पनीय और स्वर्ग का लुत्फ उठा रहे हैं जो बिना प्रदूषण से कम समय में लम्बी दूरी तय कर लेती है। इसी तरह चाँदनी चौक के बीचोंबीच लालकिले से फतेहपुरी तक–एक नहर बहती थी जिसके दोनों ओर बनी दुकानों में मुगल बेगमात खरीदारी करती थीं। मगर उसकी जगह अब मेट्रो रेल आबाद हो गई है–नहर में भरे जल की शीतलता की जगह मेट्रो के लौहपथ और सुरंग ने ले ली है–शायद कंक्रीट के जंगल और पहाड़ ऐसे ही बनते हैं। मगर लेखिका ने दिल्ली के उन आठ सौ तालाबों के बारे में तफसील से नहीं लिखा है जो आजादी मिलने के समय तक मौजूद थे। और जिनकी जगह अब बड़ी-बड़ी इमारतें और झुग्गी-झोपड़ियों ने ले ली है। लेखिका ने गलियों की बसावट (जिसे बार-बार 'बसागत' लिखा गया है) का समाजशास्त्रीय खाका भी पेश किया है : मसलन, बल्लीमारन

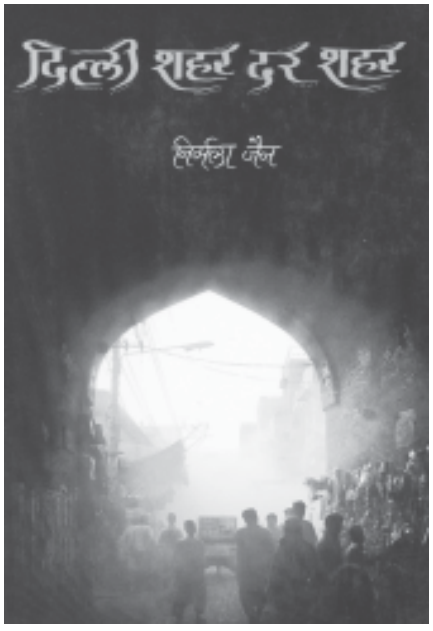

को महज मुसलमानों का रिहाइशी इलाका मानने की भूल न करें क्योंकि अन्दर जाने पर बनियों की बस्ती (हवेली हैदरकुली) और कायस्थों का टोला है। दरीबाँ कला में कूचा सेठ भी है जिसकी गली कँकरौंदा इतनी सँकरी थी कि छः फीट के आदमी को घुसने के लिए सिर झुकाना पड़े। आखिर में एक बड़े जौहरी की हवेली थी–दिल्ली की लाला संस्कृति का यह अजीब नमूना था। मगर लाला संस्कृति में जिन्दगी की लय बड़े इत्मीनान से विलम्बित गति से चलती थी। लेखिका ने ठीक ही लिखा है : ''पारस्परिकता और सामाजिक व्यवहार कुछ ऐसा कि अजनबीपन या बेगानेपन का रोना रोते विरले ही दिखाई देते थे। कुल मिलाकर मानसिकता में सामंतशाही के संस्कार और आधुनिकता के प्रति उन्मुखी भाव। कलाओं की कद्रदानी और मिजाज में शौकीनी अपनी जगह। समाज की संरचना में पुरुषों का वर्चस्व। स्त्रियाँ घर की शोभा, जो सुरक्षित जीवन में ही सार्थकता खोजकर धन्य हो जाती थीं। यूँ अवैध सम्बन्धों का कारोबार दोनों पक्षों में भरपूर चलता था। स्त्रीपक्ष में कुछ कम, प्रायः गुपचुप।'' (पृ. 22) सो पुरुषों द्वारा रखी गई रखैलों की अवैध सन्तानें सम्पत्ति के बँटवारे में झगड़ा शुरू करती थीं।

एक ओर गली-मोहल्ले में गन्दगी थी, तो दूसरी ओर जिन्दगी भी धड़कती थी। जैसे सेठ नत्थूमल की जवान बेटी के साथ सेठ जौहरी मल के तीसरे बेटे की आँख-लड़ौवन चलती थी। मगर प्रेम की पींगें प्रायः परवान नहीं चढ़ पाती थीं–काल्पनिक मिलन और वास्तविक विरहानुभूतियों का जमाना था। दो संचार माध्यमों (रेडियो और अखबार) के अलावा सूचना-प्रसार के लिए नाई की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती थी जो जन्म, विवाह और मृत्यु जैसे अवसरों पर प्रत्यक्ष भूमिका निभाने के साथ घर का भेदिया बनकर 'आल इन वन' की संस्थागत भूमिका निभाता था। लड़के की बारात का निमन्त्रण देने के लिए वह दुनिया में सुपारियाँ लेकर निकलता था और आमन्त्रित व्यक्ति जितनी सुपारियाँ उठाता था, उतने बाराती का संकेत मिलता था। स्त्रियाँ बारात नहीं जाती थीं। मगर उत्तर प्रदेश में इस रस्मोरिवाज से थोड़ा भेद है। वहाँ सुपारी या हल्दी की गाँठ दी जाती रही है और उसकी संख्या आमन्त्रण देने वाला पहले ही तय कर लेता है। मगर दिल्ली की यह रस्म उल्लेखनीय है जिसमें नाई मौत की खबर मुहाने/चौराहे पर आवाज लगाकर देता था–फलाँ (अमुक के पिता/बेटा/बेटी/बहू/पत्नी) 'काल कर गये हैं।' लेखिका ने इस तथ्य को उभारा है कि ऐसी आवाज सुनकर लोगों के कान खड़े हो जाते और बुजुर्ग लोग बड़बड़ाते–'अरे...कोई गया' (पृ. 26)। इस जाने में उसके और जीने की इच्छा शामिल होती; उसे अब चिन्ता भी सताती कि कहीं अगला नम्बर उसी का न हो। खैर...मौत या जन्म या विवाह सभी अवसरों पर मुहल्ले की भागीदारी का भाव होता था और रस्में बड़ी तफसील से सम्पन्न की जाती थीं। मगर आज की बेतहाशा भाग-दौड़ की जिन्दगी में सुख-दुःख भागीदारी का भाव गायब हो गया है। यदि लोग किसी जलसे में शामिल भी होते हैं, तो फर्ज अदायगी ज्यादा होती है। उस जमाने में वैद्य भी सिर्फ दवा देने तक अपना दायित्व नहीं समझते थे बल्कि मरीजों के परिवारों के राजदार और सलाहकार की भूमिका भी निभाते थे। दरअसल तब चिकित्सक-मरीज के बीच उपभोक्तावादी सम्बन्ध नहीं था, दोनों एक दूसरे को जानते और चाहते थे।

खान-पान और बोली-बानी में भी अलग सामाजिक पहचान कायम थी। जातियों के हिसाब से खाना बनता और शाकाहारी लोग माँसाहारी लोगों के यहाँ खाने पर जाने से परहेज करते। लेखिका ने समाजशास्त्रीय विवेचन करते हुए ठीक ही लिखा है : ''बोली-बानी, शब्द-सम्पदा, उच्चारण सबमें जातिगत और वंशगत संस्कारों के कारण ऐसा अंतर था कि मुँह खोलते ही अंदाजा लगाया जा सकता था कि वक्ता का कुल-गोत्र क्या है। औरतों और मर्दों की जबान का फर्क अलग। चाहें तो इसे घरेलू और बाजारू जबान का फर्क कहा जा सकता है।'' (पृ. 29) इसके अलावा पेशों की जबानों में भी अन्तर रहता था। खड़ी बोली के शेड्स अलग-अलग थे। दिल्ली की खड़ी बोली का एक रूप 'करखनदारी' था जिसमें वाक्य के आगे-पीछे 'अबे-तबे' तथा माँ-बहन की गालियाँ जुड़ी होती थीं। इसे ताँगे-रेहड़ी वाले तथा जामा मस्जिद के पास वाले ज्यादा इस्तेमाल करते थे। दिल्ली में अधिकतर व्यापारी हिंदू और शिल्पी-कारीगर मुसलमान होते थे, सो परस्पर-निर्भरता थी मगर रिहाइशी इलाके अलग-अलग थे। चावड़ी बाजार हिंदुओं-मुसलमानों के रिहाइशी इलाकों को विभाजित करता था। वहाँ नीचे दुकानें और ऊपर तवायफों के कोठे हुआ करते थे। मगर सदी के चौथे दशक में वहाँ की तवायफों को जी. बी. रोड पर पुनर्वासित कर दिया गया। बगल में सीताराम बाजार दावतों के विशेषज्ञ हलवाइयों के लिए मशहूर है। वहीं के कूड़ेमल मोहनलाल कुल्फी वाले ने ऐश्वर्या-अभिषेक की शादी में कुल्फी की आपूर्ति की थी जिसका विज्ञापन बराबर छपता है। वहाँ अब साठ से अधिक किस्में बिकती हैं, मगर फुटकर नहीं। थोक से आपूर्ति करने का आदेश वह दुकानदार लेता है। मगर वहीं विस्थापित कश्मीरी पण्डितों की बस्ती भी है। वहीं कमला नेहरू का परिवार रहता था और जवाहर लाल नेहरू की बारात सीताराम बाजार में ही आई थी। मगर कश्मीरी विस्थापन से दिल्ली के सम्बन्ध में सवाल को गहराई से नहीं उठाया गया है।

लेखिका ने दिल्ली के खाना-खजाना पर पूरा एक अध्याय ही लिखा है। भारतीय व्यंजनों ने अमेरिका और यूरोप के बाजारों में भी अपनी जगह बना ली है। सो लेखिका की टिप्पणी सटीक है : ''भूमण्डलीकरण के प्रभाव का एक पक्ष अपनी निजता और अस्मिता के प्रति अधिक संरक्षणशील, अधिक सतर्क होते जाना भी है।'' (पृ. 39) फिर दिल्ली की ब्रिटिश- कालीन इमारतों के निर्माण के पीछे बड़प्पन का भाव था क्योंकि लॉर्ड स्टेमफोर्डडम ने वायसराय को स्पष्ट निर्देश दिया था कि 'गवर्नमेंट हाउस' किसी भी हालत में जामा मस्जिद और लालकिला से छोटा नहीं हो। इसीलिए रायसीना पहाड़ी पर राष्ट्रपति भवन और साउथ ब्लॉक-नॉर्थ ब्लॉक तैयार किए गए। वास्तुकलाविद् लुटियन हुमायूँ के मकबरे के पीछे यमुना पर बाँध बाँधकर एक विशाल तालाब बनाना चाहता था, मगर वहाँ एक खेल स्टेडियम बना दिया गया। दूसरे, वह राजभवन को सीधे पुराने किले के प्रवेश द्वार तक ले जाना चाहता था और वह सचिवालय के दोनों तरफ से जामा मजिस्द के दक्षिणी द्वार तक सड़क निकालना चाहता था। तीसरे, वह लालकिला के दिल्ली गेट के सामने एक विशाल चौराहा बनाना चाहता था। मगर अधिक खर्च के कारण लॉर्ड हार्डिंग ने तीनों योजनाओं को नामंजूर कर दिया। सो लुटियन ने टिप्पणी की : वायसराय सिर्फ अगले तीन साल के बारे में सोच रहे हैं और मैं तीन सौ सालों के बारे में सोच रहा हूँ। खैर...उसने ऊँची छतों और मोटी दीवारों का निर्माण करके भवन को ठण्डा बनाने की भरपूर कोशिश की। उन दिनों नई दिल्ली में

भवन-निर्माण में जो कारीगर और मजदूर काम करते थे, वे अस्थायी रूप से रफी मार्ग (ओल्ड मिल रोड) पर बसे थे। उनकी मजदूरी में अन्तर था–पुरुषों को आठ आने, महिलाओं को छः आने और बच्चों को चार आने दिनभर की मजदूरी मिलती थी। उस समय के प्रसिद्ध ठेकेदार सर शोभा सिंह (खुशवंत सिंह के पिता) थे। उस समय नई दिल्ली में वृक्षारोपण के लिए पाँच सौ किस्में आस्ट्रेलिया, पूर्वी अफ्रीका आदि से मँगाई गईं। सड़क एवं भवन-निर्माण के साथ-साथ नई किस्मों की नर्सरी भी विकसित की गई। इसके फलस्वरूप दिल्ली सघन वृक्षों से हरी-भरी है (निर्माण और विकास के नाम पर कटाई भी जारी है) मगर दुःख है कि ये विदेशी प्रजाति के वृक्ष लोगों के काम के नहीं हैं (छाया, जलस्तर के अलावा)। यदि फलदार वृक्ष लगाए गए होते, तो लोगों को ज्यादा फायदा होता। दिल्ली में आम, महुआ, नीम, जामुन, पीपल, बरगद, शीशम आदि के वृक्ष बिल्कुल नहीं दिखाई देते। जिस नई दिल्ली का निर्माण चार-पाँच वर्षों में होना था, वह सोलह वर्षों में हुआ (1929 तक मुख्य इमारतें बन गईं)। अँग्रेजों की नीति के मुताबिक चपरासी, धोबी और सफाई कर्मचारियों को नए शहर में आखिरी सिरे पर बसाया गया। ब्रिटिश और भारतीय अमीर व्यापारियों को कनॉट प्लेस से निकलने वाली सड़कों पर प्लॉट दिए गए। सर शोभा सिंह ने अपने दो सिनेमा हॉल बनवाए-रीगल और रिवोली। उन्होंने कनॉट प्लेस का इलाका दो आना प्रति गज के हिसाब से खरीदा था। उस समय दिल्ली में लोक निर्माण विभाग के चीफ इंजीनियर थे तेजा सिंह मलिक।

लेखिका ने आजादी की लड़ाई के दौरान दिल्ली की तस्वीर भी पेश की है। 1913 में दिल्ली ब्रिटिश भारत की राजधानी बन गई। मिर्जा गालिब अपने 'खतूते गालिब' और 'दस्तंबो' में एक नहीं, दो गालिब दिखाई देते हैं। वास्तव में, गालिब ने 1857 की क्रान्ति का समर्थन नहीं किया और खुद अपनी पेंशन के लिए चिन्तित रहते थे। यही हाल मोमिन का भी था। पद्मकार (जो 1925 तक जिए) ने भी ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ कुछ नहीं लिखा। मगर दिल्ली में ही ऋषभचरण जैन ने 1857 पर 'गदर' नामक उपन्यास 1930 में लिखा था, जो सरकार द्वारा जब्त कर लिया गया था। तमाम पढ़े-लिखे लोगों की नजरें राय बहादुर, राय साहब, 'सर' जैसी उपाधियों पर टिकी थीं। हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं को 'वर्नाकुलर' कहकर हीन बना दिया गया था और अँग्रेजी को पटरानी बना दिया गया था। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय लोगों को जान-माल में से एक चुनना था, सो जान की फिक्र करना स्वाभाविक था। बिजली-पानी की आपूर्ति बमबारी से प्रभावित हो सकती थी, सो लोग अपने आँगन में कुआँ खुदवाने लगे। यद्यपि दिल्ली पर बमबारी नहीं हुई, मगर दिल्ली के लोग सुभाषचन्द्र बोस के लापता होने पर आजाद हिंद फौज के अफसरों की गिरफ्तारी होने तथा जापान में अणुबम के प्रयोग से मारे गए लोगों के बारे में चिन्ता करने लगे। 1946 में किस प्रकार इन्द्रप्रस्थ कॉलेज की लड़कियों ने प्राचार्य द्वारा लोहे का दरवाजा बन्द करने के बावजूद चारदीवारी फाँदकर अँग्रेजों के खिलाफ जुलूस निकाला, यह घटना महत्त्वपूर्ण है क्योंकि एक ओर अनुशासन भंग होने से प्राचार्य ने इस्तीफा दे दिया, दूसरी ओर विद्यार्थी यूनियन की नेता उनके इस्तीफे के बेहद दुःखी थी–यानी व्यक्तिगत रूप से उसके दिलोदिमाग में प्राचार्य के प्रति सम्मान था मगर देश की आजादी का सवाल अनुशासन के सवाल से काफी बड़ा था।

यद्यपि देश को 15 अगस्त 1947 को आजादी मिली मगर जिसका इन्तजार था, वह सुबह नहीं हुई विभाजन की त्रासदी के कारण। उस दौरान कई दंगे भी हुए और संवेदनशील इलाकों में रहने वाले हिंदू-मुस्लिम दोनों समुदाय के लोग दहशत की जिन्दगी जी रहे थे–हमलों से बचने के लिए दरवाजे-खिड़कियाँ बन्द, भागने के लिए छत से सीढ़ी लगाकर उतरना, लम्बी कमरबन्द पट्टियाँ (जिसमें नगदी, गहने आदि भरते थे) तैयार रखना, रात भर पहरेदारी करना आदि। खैर...

लेखिका के अनुसार यशपाल के उपन्यास 'झूठा सच' को साहित्य अकादमी पुरस्कार न दिलाने में दिनकर ने महती भूमिका निभाई थी क्योंकि उसमें कांग्रेस की मुखर आलोचना की गई थी, सो भगवतीचरण वर्मा को 'भूले बिसरे चित्र' के लिए वह पुरस्कार दिया गया (पृ. 81)। मगर कुछ लोगों ने इस आरोप का खण्डन किया है। क्योंकि डी.एस. राव द्वारा लिखित साहित्य अकादेमी के संक्षिप्त इतिहास 'फाईव डिकेड्स' में इस बात का उल्लेख है कि 1982 में साहित्य अकादेमी में हिंदी के संयोजक डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी थे और उन्होंने ही यशपाल के उपन्यास 'झूठा सच' को नेहरू से विमोचित करके पुरस्कृत नहीं होने दिया। दिनकर इसमें कहीं नहीं थे। (पृ.सं. 197) लेखिका ने यह सूचना भी दी है कि दिल्ली विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के डॉ. नगेन्द्र की नियुक्ति मैथिलीशरण गुप्त के प्रयास से तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद के हस्तक्षेप से हुई थी और उनके रुतबे का कारण उनकी अँग्रेजी साहित्य की पृष्ठभूमि, रेडियो की नौकरी और राजनैतिक सम्बन्ध थे। मगर इस चीज को लेखिका ने इस तरह दुहराया है (पृ. 84, पृ. 94) मानो यह कोई महान वैज्ञानिक खोज हो। फिर भी लेखिका ने डॉ. नगेन्द्र को गैर-साम्प्रदायिक, गैर-जातिवादी और उदार बताया है जिसके कारण उनके अध्यक्षता काल में महाविद्यालयों और हिंदी प्राध्यापकों की संख्या काफी बढ़ी। मगर वह साहित्य से ज्यादा साहित्यशास्त्र पर जोर देने लगे : ''दूसरों को स्पेस देना उनकी प्रकृति में नहीं था', 'समकालीन साहित्य को वह सराह न सके', 'तमाम विषयों पर अकादमिक शैली में स्वतन्त्र पुस्तिकाएँ लिखने लगे जिससे उनकी ख्याति में क्षति हुई' (पृ. 86)। आगे यह भी लिखा है 'वे सही नहीं, अनुकूल बात सुनना चाहते थे' (पृ. 94)। इसके अतिरिक्त, डॉ. नगेन्द्र ने उदयभानु सिंह और नामवर सिंह की उपेक्षा की। 'डॉ. नगेन्द्र औसत प्रतिभावाले खुशामदी तत्वों से घिरे रहते थे, वह सोहबत नामवर सिंह को कभी रास नहीं आई।' मगर नामवर जी ने भी बाद में कमोबेश वही किया। लेखिका के अनुसार स्वाधीनता के बाद दिल्ली 'सम्भावनाओं की नगरी' की हैसियत अख्तियार करती गई। उन्होंने मुगलों और अँग्रेजों के शासन में दो फर्क किए हैं : पहला, मुगलों ने भारत में बसने के लिए शासन किया जबकि अँग्रेजों ने उसे सिर्फ अपना उपनिवेश बनाया। दूसरा, भारतीय भाषाओं में रचित साहित्य-संगीत की मुगल कद्र करते थे, अंग्रेज नहीं। मगर क्या यह सच नहीं है कि मुगल शासन में राजभाषा फारसी (विदेशी) थी, न कि कोई भारतीय भाषा? वास्तव में, उर्दू को फारसी लिपि में प्रचलित करने के लिए वे ही जिम्मेदार थे वरना हिंदी-उर्दू की एक ही लिपि होती और दोनों का विकास ज्यादा होता। मुगलों ने भी भारत को लूटा और अँग्रेजों ने भी। मुगलकाल में धर्मान्तरण भी तेजी से हो रहे थे, क्या सभी धर्मान्तरण स्वैच्छिक माने जा सकते हैं? शायद नहीं। सो लेखिका का सरलीकृत समन्वयवादी दृष्टिकोण गहन नहीं है।

लेखिका ने आगे लिखा है कि डॉ. नगेन्द्र ने मुक्तिबोध को साहित्य अकादेमी

पुरस्कार नहीं लेने दिया और खुद ले लिया। विवादास्पद लगता है। मुक्तिबोध की मृत्यु 1964 में हुई। 1964 का पुरस्कार अज्ञेय को 'आंगन के पार द्वार' पर और डॉ. नगेन्द्र को 1965 में 'रस सिद्धान्त' पर मिलता है। 1966 में जैनेन्द्र की उपन्यासिका-मुक्तिबोध को पुरस्कृत किया गया। लेखिका ने शीला सन्धू के कार्यकाल के दौरान राजकमल की उन्नति की चर्चा की है और यह भी कि किसी लेखक को किताब के बारे में कोई शिकायत नहीं हुई (पृ. 107-108)। मगर बाद में राजकमल प्रकाशन के पतन (गुणवत्ता, रायल्टी का हिसाब विवादास्पद होना जैसे गगन गिल और महाश्वेता देवी के मामले में) की चर्चा नहीं की गई है। आपातकाल में हिंदी लेखक डॉ. रघुवंश की गिरफ्तारी तोड़-फोड़ और दंगे के लिए करने का जिक्र महत्त्वपूर्ण है मगर लेखिका में साहस की कमी दिखती है जब वह लिखती हैं कि हमारे एक वरिष्ठ सहयोगी ने संजय गांधी में उदीयमान सूर्य की सम्भावनाओं पर एक ग्रंथ प्रकाशित कर दिया था–आखिर नाम क्यों नहीं लिया? जबकि दूसरी ओर उन्होंने लिखा है कि श्रीकान्त वर्मा लेखकों/ पत्रकारों को इन्दिरा गांधी के पास आपातकाल में ले जाते थे। राजेन्द्र यादव और अजित कुमार वहाँ नहीं गए जबकि सुमित्रानन्दन पंत उनसे मिलने गए। महादेवी वर्मा इस मिलन पर काफी नाराज हुईं। खुद अज्ञेय ने आपातकाल के खिलाफ कुछ नहीं कहा।

खैर...लेखिका दिल्ली के भीतरी और बाहरी लोगों के बीच एक विभाजन रेखा खींचती हैं और बाहर से आए झुग्गीझोंपड़ियों में बसे मजदूरी वर्ग के लोगों को 'घुसपैठिये' कहती हैं : ''जो एक बार शहर में आ जाता था, वह खुद लौटने के बजाय दस और के आने का जरिया बन जाता था...शहर के भीतर इनकी रिहाइशी व्यवस्था करना व्यावहारिक नहीं था।'' (पृ. 128)। आगे उन्होंने यह भी लिखा है : ''विस्थापितों को जगह देते-देते खुद 'दिल्ली वालों' के पैर उखड़ गए थे (पृ. 176)। इन कथनों में संकीर्णता की बू आती है, भले उसकी गहनता और व्यापकता शिवसेना और मनसे के बराबर न हो। वह फिर लिखती है कि 'राजनीतिक सत्ता में दावेदारी करने वालों में भी मूल दिल्लीवासियों की गिनती बहुत कम हो गई...दिल्ली का मतलब हो गया एक बड़ा-सा कोलाज' (पृ. 178)! आपातकाल के बाद जनता पार्टी (न कि लोकदल) के राजनारायण से इन्दिरा गांधी रायबरेली लोकसभा चुनाव हार गईं। अटल बिहारी वाजपेयी ने विदेश मन्त्री की हैसियत से संयुक्त राष्ट्र में हिंदी में भाषण दिया। उनके लौटने पर हुए एक समारोह में अज्ञेय ने उनका ध्यान दिलाया कि विदेश मन्त्रालय के सारे बोर्ड अँग्रेजी में लिखे हुए है, सो इस पर तत्काल कार्रवाई हुई। मनोहरश्याम जोशी ने वाजपेयी की प्रशंसा में काफी कुछ लिखा और धर्मवीर भारती ने भी सत्ता के प्रति वफादारी का धर्म निभाया। दिल्ली में स्थित तमाम अकादमियों का सरकारीकरण हो गया। जिस हिंदी अकादमी की आलोचना राजेन्द्र यादव ने की, उसने 'हंस' को विज्ञापन देकर और खरीद करवाकर उनकी लेखनी को कुण्ठित कर दिया। हाल में अकादमी में पदों-पुरस्कारों को लेकर उठापटक हुई और 'साहित्य को मनोरंजन' बताने वाले की जीत हुई मगर इसका जिक्र नहीं है।

लेखिका ने आगे लिखा है कि इन्दिरा गांधी की हत्या के बाद राजीव गांधी ने 'बड़े धैर्य और संजीदगी से दिल्ली के आसपास दंगा प्रभावित इलाकों का दौरा किया। पीड़ितों को सान्त्वना दी और सुरक्षा बलों की संख्या बढ़ाने के निर्देश दिए। उनके इस व्यवहार का अनुकूल प्रभाव पड़ा।' मगर यह पूरा सच नहीं है। राजीव गांधी ने यह भी कहा था– 'जब बड़ा पेड़ गिरता है, तो आस-पास की जमीन उखड़ जाती है।' इसके अलावा सिख-विरोधी दंगे कई दिनों तक लगातार होते रहे और पुलिस मूक- दर्शक बनी रही। प्रभावित सिक्खों को 2008 में मुआवजा दिया गया और एक सिक्ख पत्रकार ने गुस्से में गृहमन्त्री के ऊपर जूता फेंक दिया जैसे इराक में एक पत्रकार मुंतजर अल जैदी ने अमेरिकी राष्ट्रपति जॉर्ज बुश पर जूता फेंका था। लेखिका ने जुलूस के दौरान सफदर हाशमी की हत्या करने का उल्लेख भी किया है और आजकल 'सहमत' नामक संस्था उनके सपनों को साकार कर रही है। फिर रामशिला पूजन और बाबरी मस्जिद के गिराने पर हुई हिंसा का जिक्र है। लेखिका ने आज की दिल्ली संस्कृति पर ठीक ही टिप्पणी की है : ''पर सम्बन्धों में 'हे हाय', खान-पान में 'पीजा बर्गर, चाइनीज', भाषा में 'हिंगलिश', और मनोरंजन के नाम पर 'पब' और 'पार्टी'। सब कुछ तुरत-फुरत, 'तत्कालवाद के महामन्त्र के तले।' (पृ. 185) फिर आजकल बैंकों से कर्ज लेने की प्रवृत्ति बढ़ी है–खर्च करो, चाहे कर्ज ही लेना पड़े। अब बड़े व्यापारिक घरानों की महिलाओं ने शोरूम सम्भाल लिया है। इसमें पुरुषों की सहभागिता रही, यानी एक प्रकार से योग्य गृहणियों ने कार्य-व्यापार सम्भाल लिया।

पूरी पुस्तक पढ़ जाने के बाद यह निष्कर्ष निलकता है कि इसमें मुक्तिबोध की 'एक साहित्यिक की डायरी' जैसी गहनता-व्यापकता और मारक शक्ति नहीं है। यह सूचनात्मक ज्यादा है, विश्लेषणात्मक कम। लेखिका ने दिल्ली पर लिखी गई पंकज राग की कविता उद्धृत की है, मगर भगवत रावत की कविता नहीं, जबकि वह ज्यादा मारक और सटीक है। इस पुस्तक में पुलिस मुठभेड़ों की चर्चा नहीं है जबकि कनॉट प्लेस और जामियानगर की घटनाएँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रही हैं–जामियानगर की मुठभेड़ में काफी राजनीति भी हुई, उसके बावजूद शहीद इंस्पेक्टर मोहनचन्द्र शर्मा को अशोक चक्र दिया गया जो सर्वथा उचित था। इस पुस्तक में प्रगति मैदान में लगने वाले मेलों की चर्चा नहीं है–खास पुस्तक मेलों की जो अब असाहित्यिक हो रहे हैं और जिनमें महँगे टिकट के कारण ज्यादा लोग भाग नहीं ले पा रहे हैं। फिर इसमें दिल्ली से छप रही विभिन्न साहित्यिक पत्रिकाओं की चर्चा नहीं है, बढ़ते प्रकाशकों की चर्चा नहीं है, गिड़गिड़ाते लेखकों की चर्चा नहीं है, अखबारों से गायब होते साहित्यिक-सांस्कृतिक पृष्ठों की चर्चा नहीं है। यहाँ तक कि लेखिका ने 'दिल्ली जो एक शहर है' (महेश्वर दयाल) जैसी महत्वपूर्ण पुस्तक पलटने की जहमत भी नहीं उठाई। निर्मला जैन की खराब स्मृतियों से रची यह पुस्तक कहीं से भी विलक्षण नहीं है। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि यह पुस्तक पढ़ी तो जा सकती है, मगर यह संग्रहणीय नहीं है। प्रूफ की गलती भूमिका के पहले पृष्ठ से शुरू होती है–'रच-बस' की जगह 'रस-बस' से (पृ. 5) यूँ छपाई और पुस्तक का आवरण अच्छा है। 'कौन जाए जौक़ अब दिल्ली की गलियां छोड़कर।' और अब निर्मला जैन गुड़गाँव में रहती हैं।

दिल्ली शहर दर शहर, निर्मला जैन, राजकमल प्रकाशन, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-110006, मूल्य : रु. 250.00

डी-71, निवेदिता कुंज, आर के पुरम, सेक्टर-10, नई दिल्ली-110022, फोन : 011-26162591

संस्मरण

एक बीते और विस्तृत दौर की छवियाँ

मधुरेश

बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक में टी.एस.इलियट के काव्य-नायक अल्फ्रेड प्रूफ्रॉक ने कॉफी के चम्मच से अपनी जिन्दगी नापने की बात कही थी। वह वस्तुतः पश्चिमी बुद्धिजीवियों के कॉफी-हाउस संस्कृति की शुरूआत का दौर था। पेरिस, न्यूयार्क और लन्दन में जो कॉफी-हाउस संस्कृति विकसित हो रही थी, आगे आने वाले वर्षों में वह साहित्य, दर्शन, कला आदि क्षेत्रों के अनेक आन्दोलनों को जन्म देने वाली थी। कैफे डिलासिवलाइजेशन, कैफे डिलापेक्स, कैफेलामेट्रो आदि वस्तुतः नई संस्कृति को नर्सरियाँ थे। सार्त्र और हेमिंग्वे जैसे लेखकों एवं पिकासो जैसे चित्रकारों के नाम इस संस्कृति से यूँ ही नहीं जुड़े हैं। नए आन्दोलन और कला- प्रवृत्तियों की चर्चा के मुख्य केन्द्र यही कॉफी हाउस थे। इनकी खिड़कियों और झरोखें से ही निकल कर ही नए प्रभाव दुनिया भर के बुद्धिजीवियों के बीच तैरते और जगह बनाते थे।

यूरोप की इस संस्कृति की तर्ज पर ही स्वाधीनता के बाद भारत के अनेक महानगरों में भी कॉफी हाउस खुले और बुद्धिजीवियों, लेखकों-कलाकारों को मिलने-बैठने और बहस-संवाद का एक नया ठौर मिला। दिल्ली में स्थापित टी-हाउस, भले उसमें चाय के नाम पर कॉफी मिलती हो, दिल्ली के साहित्यिकों एवं बुद्धिजीवियों के लिए एक ऐसा ही अड्डा था। देश की स्वाधीनता के बाद जब साहित्य और कला की अघोषित राजधानी भी दिल्ली बनी, लेखकों-कलाकारों का दिल्ली की ओर रुख करना स्वाभाविक था। यह वह दौर था जब न राजनीति में कुवड्डों की रसाई थी, न ही राजनीति एवं बुद्धिजीवियों के बीच आज जैसा मरुस्थल पसरा था। अतः इस टी-हाउस में तब लोहिया जैसे वे नेता भी जब-तब दिखाई देते थे जिनका उस दौर के लेखकों-बुद्धिजीवियों पर गहरा असर था।

समकालीन हिंदी साहित्य में अनेक आन्दोलनों की क्रीड़ा-भूमि यह टी-हाउस ही रहा है। 'नई कहानी', 'सचेतन कहानी', 'अकहानी', 'समानान्तर कहानी', 'जनवादी कहानी' के साथ ही 'नई कविता', 'समकालीन कविता', 'विचार कविता' आदि के खेमे इसी टी-हाउस की धरती पर गाड़े गए। यह टी-हाउस नई कला-प्रवृत्तियों एवं आन्दोलनों की योजनाभूमि ही नहीं था, नए लिखे-छपे साहित्य को नोटिस में लाने का भी यह मुख्य केन्द्र था। तब साहित्य में लोकार्पण एवं विमोचन की अपसंस्कृति विकसित नहीं हुई थी और इस टी-हाउस की मेजों पर नई किताबों और पत्रिकाओं को न सिर्फ देखा जा सकता था, उन पर केन्द्रित बहसों को भी सुना जा सकता था।

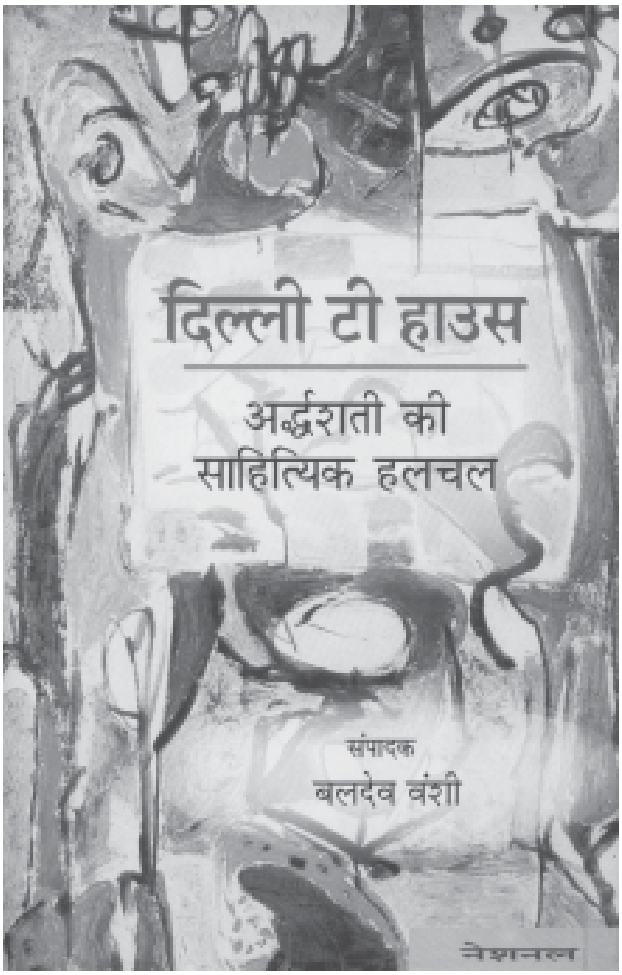

बलदेव वंशी ने ठीक ही 'दिल्ली टी-हाउस' को पिछले 'पचास वर्षों के जीवंत इतिहास का सन्दर्भ-ग्रन्थ' कहा है। साहित्य की अनेक पीढ़ियों के लेखक, वैचारिक एवं रचनात्मक रूप में, उसी तरह यहाँ एक जगह देखे जा सकते हैं जैसे वे कभी सचमुच टी. हाउस में इकट्ठे होते, हँसते-बतियाते, बहस करते–कभी लड़ते-झगड़ते और बाकायदा शारीरिक सुलूक करते दिखाई देते थे। अपने-अपने अनुभव के हिसाब से इस टी-हाउस को किसी ने अपना 'दूसरा घर' कहा है तो किसी ने 'मक्का' और 'यूनिवर्सिटी'। बहुतों को यह इतिहास-भूमि और नर्वसेंटर की भूमिका में भी रहा है। लेखकों-बुद्धिजीवियों की अड्डेबाजी का यह लम्बे समय तक प्रमुख केन्द्र रहा। दिल्ली में आकर बसे और स्थानीय बन चुके लेखकों का तो यह नियमित मिलन-स्थल था ही, बाहर से आने

वाले लेखकों के लिए भी शाम को बहुत से प्रिय और मनपसन्द लोगों से एक साथ मिलने की सुविधा होती थी।

संकलन में कुल मिलाकर चार पीढ़ियों के जिन पैंतालीस लेखकों की रचनाएँ शामिल हैं उनमें से अनेक ऐसी भी हैं जो टी.हाउस से सीधे नहीं जुड़ी हैं। कृष्णा सोबती, भीष्म साहनी, राजेन्द्र यादव, हंसराज रहबर, अनीता राकेश, सुनीता जैन, कमल कुमार आदि के लेख टी.हाउस के बारे में उतना नहीं कहते-बताते जितना उस दौर की दिल्ली और लेखकों के आपसी रिश्तों पर अपने को फोकस करते हैं। स्वाधीनता के बाद, देश-विभाजन के परिणामस्वरूप दिल्ली पर पंजाबी धमक को जाने-समझे बिना न उस दौर में बनती और रूप लेती दिल्ली को कायदे से समझा जा सकता है, न ही उस टी.हाउस को जो उस बदलती हुई दिल्ली के चरित्र और जरूरतों का ही एक प्रतिनिधि हिस्सा था। कृष्णा सोबती का आलेख 'मार्फत दिल्ली' इस दृष्टि से एक उल्लेखनीय आलेख है जो दिल्ली पर इस पंजाबी धमक को बहुत चित्रात्मक ढंग से प्रस्तुत करता है। कमल कुमार जैसे एकाध लेखक में खाता सुलटाने वाली प्रवृत्ति भले ही हो, अधिकतर लेख हमें उस दौर की दिल्ली और लोगों के चुपचाप काम करने की संस्कृति से परिचित कराते हैं। हिंदी गद्य की विभिन्न छवियाँ और अर्थ छटाएँ इनका एक अतिरिक्त आकर्षण है।

इसे संपादकीय विवेक एवं अन्तर्दृष्टि का ही उदाहरण माना जाना चाहिए कि उस दौर की दिल्ली और साहित्य जगत की विभिन्न गतिविधियों, रचनात्मक योजनाओं, आकांक्षाओं तथा नेपथ्य में पतली दुरभिसंधियों को भी यहाँ समेटने की कोशिश की गई है। स्वाभाविक रूप से लेखकों के पत्र और पूर्वलिखित डायरियों का उपयोग इस सन्दर्भ में उपयोगी रहा है। 'प्रणामोत्तर निवेदयामि' शीर्षक से अज्ञेय द्वारा 'तारसप्तक' के कवि भारत भूषण अग्रवाल का लिखित पत्र जहाँ भारत-परिवार के प्रति अज्ञेय की हार्दिक चिन्ता का दुर्लभ उदाहरण है, वहीं वे 'प्रतीक' के प्रकाशन की योजना और सहयोगी उपन्यास 'बारह खम्भे' की मूल योजना को भी उद्घाटित करते हैं। शब्द-क्रीड़ा और भारत की रचनाओं पर अज्ञेय की उन्मुक्त निर्व्याज प्रतिक्रिया से प्रवृत्ति से भी अज्ञेय के उस व्यक्तित्व के अनेक पक्ष सामने आते हैं जिनके प्रति लोग या तो अपेक्षाकृत कम जानते हैं या फिर अनेक भ्रमों के शिकार रहे हैं। इसी तरह 'दिल्ली से पत्राचार' भारत भूषण अग्रवाल के अशोक वाजपेयी को लिखित पत्रों का चयन है जिसमें दो पीढ़ियों की रचनात्मक चिन्ताएँ आमने-सामने हैं–भले ही इकतरफा टिप्पणियों एवं प्रतिक्रियाओं द्वारा इसमें भारत जी से पूर्व की पीढ़ी भी शामिल है। दिनकर की 'उर्वशी' पर भारतभूषण अग्रवाल की यह टिप्पणी अपनी पूर्व पीढ़ी के एक कवि को हार्दिकता से समझने का एक दुर्लभ उदाहरण माना जा सकता है, उस पुस्तक की मैंने जो इतनी प्रशंसा की है, उसका यही राज है। वह हमारी पीढ़ी की मनसा का सच्चा अंकन है और दिनकर की अग्रगामिता का प्रमाण। और उसके सभी कथ्य से मैं एकमत नहीं हूँ, उसकी बेकली तो हमारी है, पर उसकी उपदेशात्मकता नहीं, पर फिर भी दिनकर मेरी पीढ़ी से एक पीढ़ी पहले हैं। अतः उसका ग्रहण पक्ष ही मैं देखता हूँ'... (पृ. 250)

इसी क्रम में अपनी भूमिका में बलदेव वंशी ने शिवदान सिंह चौहान पर 'पहल' में प्रकाशित मेरे संस्मरण 'तीस वर्ष लम्बा निर्वासन' के साथ मुझे लिखित उनके दस में से चार पत्रों के संस्मरण के कुछ अंशों को सम्मिलित करने सूचना देते हुए टिप्पणी की है, 'यहाँ शिवदान सिंह चौहान जी के दस पत्रों में से चार पत्र–1, 2, 9, 10 दिए जा रहे हैं और परिप्रेक्ष्य देने के लिए मधुरेश के छपे संस्मरण के कुछ अनिवार्य अंश ताकि दफ नाए जाते हुए इतिहास के सुबूत सुरक्षित रह सकें। आज जब पुराने पुरातात्विक सुबूत ढूँढने के लिए नींव खोदी जा रही हैं वहीं कुछ लोग जीवित इतिहास को खारिज करने और दफनाने के कार्य खुलेआम कर रहे हैं (भूमिका, पृ. xiii) लेकिन इस टिप्पणी के बावजूद वे पत्र चयन में नहीं हैं जिसके कारण यह रहस्य ही बना रहता है कि आखिर वे लोग कौन हैं जो इतिहास को खारिज करने की इस दुरभिसंधि में शामिल हैं। मैंने पत्र लिखकर इस प्रसंग में बलदेव वंशी की सफाई चाही थी। लेकिन उसका कोई उत्तर मुझे नहीं मिला।

दिल्ली टी.हाउस में नियमित बैठने वाले जिन लोगों ने लम्बी पारी खेली उनमें विष्णु प्रभाकर और देवेन्द्र सत्यार्थी का उल्लेख खासतौर से किया जा सकता है। बलदेव वंशी ने इनमें से एक, हाल में ही दिवंगत विष्णु प्रभाकर को अपनी यह पुस्तक समर्पित करके, कुछ अल्प नामचीन लेखकों के साथ, एक तरह से इस टी.हाउस संस्कृति के प्रति अपने ऋण-शोध की ही अभिव्यक्ति की है। मनु शर्मा ने देवेन्द्र सत्यार्थी पर पर्याप्त काम करके एक बार फिर उन्हें फोकस में लाते का उद्यम किया है। देवेन्द्र सत्यार्थी पर यहाँ उनका संस्मरण, एक तरह से, इस दूसरे वरिष्ठ सदस्य को भावभीनी श्रद्धांजलि के रूप में प्रस्तुत है। चार पीढ़ियों के लेखक टी.हाउस में कैसे जनतान्त्रिक मूल्यों को प्रोत्साहित करते थे, इसका उल्लेख अनेक लोगों ने अपने-अपने ढंग से किया है। परस्पर विरोधी विचारधाराओं के लेखकों के बीच उठना-बैठना और रचना-पाठ आम बात थी। अनौपचारिक हार्दिकता और सौहार्द इस वातावरण का मुख्य सूत्र था। यहीं से वे मानवीय संस्कार उपजते थे जो लेखक एक-दूसरे की सहायता में बढ़कर आगे आते थे। चाहे मोहन राकेश के साथ ऑटोचालक के हमले का प्रसंग हो या फिर रमेश उपाध्याय की अपरिचितप्राय छात्रा अनीता मल्होत्रा के अचानक अस्पताल में मरे पिता के दाह-संस्कार की समस्या–एक सहज मानवीय भाव ही वहाँ इकट्ठे होने वाले लेखकों की पहचान थी। अपनी कहानी 'नौ साल छोटी पत्नी' के ही एक पात्र द्वारा अपनी पिटाई का उल्लेख रवीन्द्र कालिया बेहद जीवन्त रूप में करते हैं जिसके बाद अन्ततः कई लीटर पेट्रोल खर्च करके सुरेन्द्र प्रकाश ने हमलावर पात्र को ढूँढ निकाला था और लेखकों की भीड़ देर रात तक इरविन अस्पताल में जमी रही थी।

संकलन में अनेक आलेख ऐसे हैं जो एक ठिए और संस्था के तौर पर बुद्धिजीवियों की गतिविधियों, रचनात्मक जरूरतों के साथ संस्था की अपनी अनिवार्यता एवं प्रकृति पर जोर देते हैं । ऐसे आलेख अधिकतर वे ही हैं जो खासतौर से संकलन की योजना के बाद लिखे-लिखवाए गए हैं। कमलेश्वर के आलेख 'टी.हाउस : अब न रहे वे पीने वाले'. ..के केन्द्र में नई कहानी आन्दोलन का वह दौर है जिसमें जैनेन्द्र और अज्ञेय जैसे लेखकों

के बारे में यह तय करना होता है कि इनमें सचमुच शाहजहाँ कौन है जिसे कैद करके औरंगजेब को गद्दी पर बैठना है? दूरदर्शन के 'पत्रिका' कार्यक्रम में अज्ञेय को नोबेल प्राइज दिए जाने का प्रचार खूब जोरों पर किया गया। अज्ञेय की शिष्य मण्डली–रघुवीर सहाय सर्वेश्वर आदि–इसमें खूब सक्रिय थी। इस सारी सक्रियता का केन्द्र यही टी.हाउस था। फिर इस्रायली लेखक एग्नोन को उस वर्ष का नोबेल प्राइज मिलने पर इन लोगों ने, मुँह छिपाने के लिए, नामों में ध्वनि-साम्य का बहाना तलाश किया। जैनेन्द्र और अज्ञेय के स्वभाव की तुलना करते हुए कमलेश्वर ने लिखा है कि अज्ञेय अधिक चतुर थे। वे अपनी खीझ को छिपाने में निपुण थे जबकि जैनेन्द्र अधिक सरल और भोले थे। उनके चेहरे की किताब में उनके मन के भावों को पढ़ने में दिक्कत नहीं होती थी। वैसे अभिनय करने में वे भी कम नहीं थे।

टी.हाउस की जनतान्त्रिक प्रकृति के कारण ही वे लोग वहाँ जाने से बचते थे जो अपनी अफसरी या संपादकीय ग्रन्थि से पीड़ित रहते थे या फिर अपने अभिजात स्तर एवं संस्कारों के कारण, दूसरों से अलग दिखाने के लिए, ला-बोहीम या ऐसी ही किसी महंगी जगह बैठते थे। अज्ञेय, कृष्णा सोबती, बच्चन, दिनकर आदि इसीलिए टी.हाउस में कभी-कभार ही दिखाई देते थे और गोविंद मिश्र जैसे लोग एकाध बार वहाँ का जायजा लेने के बाद फिर प्रायः नहीं आते थे। हरिपाल त्यागी अपने आलेख में लेखकों के इस विभाजन को 'ज्ञेय' और 'अज्ञेय' के रूप में परिभाषित करते हैं। ज्ञेय और बड़े लेखक यहाँ आमतौर पर नहीं आते–इसीलिए अज्ञेय, रघुवीर सहाय, मनोहर श्याम जोशी आदि वहाँ कम ही दिखाई देते हैं। चूँकि कहने-बोलने की पूरी छूट लोगों को यहाँ मिलती थी, किसी किस्म की वर्जना और अवरोध नहीं था। बड़बोलापन और व्यंग्य-विद्रूप ही नहीं, बाकायदा गाली-गलौज की छौंक भी हवा में उड़ता नजर आता था, भले ही लोग बाद में देर तक छींकते और खाँसते रहें।

महीप सिंह को यह कहने की पूरी छूट थी, 'नई कहानी के पुरोधा सचेतन कहानी को अपने लिए बड़ा खतरा मानने लगे थे. ..(पृ. 291) जबकि सब जानते हैं और इतिहास ने इसे प्रमाणित कर दिया है, 'सचेतन कहानी' का तथाकथित आन्दोलन नई कहानी के असन्तुष्ट लेखकों का ही एक गुट था। लोगों को जोड़-बटोरकर महीप सिंह ने 'आधार' का जो सचेतन कहानी अंक निकाला, वही उसका उत्कर्ष काल था। बाद में लोग छितरकर बिखर गए जिन्हें फौरी तौर पर उन्होंने सचेतन कहानी के खाते में खतिया लिया था। बाद में कुल मिलाकर महीप सिंह के अतिरिक्त कुलभूषण, मनहर चौहान जैसे वे लोग ही बचे जिनकी कहानी में कभी कोई पहचान ही नहीं थी। ऐसी स्थिति में नई कहानी के पुरोधाओं को उससे क्या खतरा हो सकता था? सारे आरोपों-प्रत्यारोपों के बावजूद नई कहानी से बड़ा कोई दूसरा आन्दोलन हिंदी कहानी में नहीं हुआ।

कभी-कभी अज्ञान भी बड़बोलेपन को उकसाता है। अरविन्द घोष और नगेन्द्र पर योगेश गुप्त की टिप्पणियों पर जैनेन्द्र ने उन्हें उनकी भाषा और ज्ञान की सीमाओं के बारे में समझाया था। योगेश गुप्त तब पूर्वोदय प्रकाशन में ही नौकरी करते थे और अम्यागत लेखकों आदि को पानी आदि पिलाने की जिम्मेदारी भी उन्हीं की थी। इसी तरह राजेन्द्र यादव और हिमांशु जोशी पर भी योगेश गुप्त कुछ भी बोलने-कहने को स्वतन्त्र थे। आपसी मार-काट की हालत यह थी कि जिस मनोहर श्याम जोशी ने हिमांशु जोशी की सिफारिश रामानन्द दोषी के दौर में की थी, 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' से मनोहर श्याम जोशी को निकलवाने में उन्हीं हिमांशु जोशी की विशेष और सक्रिय भूमिका थी। मनोहर श्याम जोशी के लिए 'छिछोरपा' और राजेन्द्र यादव के लिए 'कातिल', 'कमीना' जैसे शब्द टी.हाउस की इसी जनतान्त्रिक पहचान का हिस्सा थे। इसी दौर में मनोहर श्याम जोशी ने राजेन्द्र यादव को 'ऐय्यारों का ऐय्यार' कहा था। 'सारिका' के लिए दिल्ली के लेखकों पर लिखते हुए और उनके बारे में आम राय एक ऐसे कुटिल व्यक्ति के रूप में थी जिसने टेक्टफुल ढंग से बेहतरीन दोस्तियाँ बिगाड़ी हैं।

अपने आलेख में रमेश उपाध्याय टी. हाउस को एक ऐसी संस्था के रूप में याद करते हैं, जिसने लोगों को प्रयोगशीलता को प्रोत्साहित किया। लेकिन इसी प्रसंग में जब वे 'ज्ञानोदय' में धारावाहिक प्रकाशित सहयोगी उपन्यास 'ग्यारह सपनों का देश' की बात करते हैं तो भ्रमवश एक गलत सूचना भी देते हैं। 'ग्यारह सपनों का देश' ग्यारह नहीं दस लेखकों के सहयोग से लिखित उपन्यास था जिसके आरम्भिक और अन्तिम अध्याय एक ही लेखक धर्मवीर भारती ने लिखे थे।

स्वाधीनता के बाद, कुछ और महानगरों की तरह, दिल्ली में भी टी.हाउस संस्कृति के तेजी से फैलाव के कुछ समाजशास्त्रीय कारकों का उल्लेख महीप सिंह ने अपने आलेख में किया है। वे लिखते हैं, 'किन्तु काफी हाउस संस्कृति उन शहरों में ही पनपती है जो महानगर नहीं होते, जहाँ अपने स्थान से कॉफी-हाउस पहुँचने तक आधा घण्टे से लेकर एक घण्टे से अधिक समय नहीं लगता, जहाँ सड़कों पर बहुत रेल-पेल नहीं होती और जहाँ आपको अपना वाहन इतनी दूर नहीं खड़ा करना पड़ता, कि गन्तव्य तक पैदल पहुँचने में ही आपकी साँस फूलने लगती है। जहाँ बसों के लिए लम्बी लाइन नहीं लगानी पड़ती है, न उसमें चढ़ने के लिए बहुत ठेलमठेल करनी पड़ती है। सम्भवतः यही कारण है कि यह संस्कृति लखनऊ, इलाहाबाद, दिल्ली जैसे शहरों में एक समय खूब फली-फूली, मुम्बई जैसे महानगरों में नहीं उभर सकी...' (पृ. 289) फिर वह समय भी आया जब दिल्ली भी 'महानगर' होने की प्रक्रिया में इन सुविधाओं से महरूम होती गई। समय के प्रवाह में स्थिर और शाश्वत जैसा कुछ नहीं होता। इस टी.हाउस और उसकी संस्कृति को भी खत्म होना ही था। बलदेव वंशी की 'दिल्ली टी. हाउस' यह सुविधा मुहैया कराती है कि इतिहास के उस बीते और विस्मृत दौर को यहाँ देखा और पाया जा सकता है–लगभग वैसी ही जीवन्तता, गहमा-गहमी और काट-फाँस की मानवीय क्षुद्रताओं के साथ।

दिल्ली-टी. हाउस, बलदेव वंशी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 2/35, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, मूल्य : 700.00

372, छोटी बमनपुरी, बरेली-243003 (उ.प्र.)
फो. (0581) 2554670

पारिवारिक सम्बन्धों की आत्ममुग्ध इबारतें

साधना अग्रवाल

नोबेल पुरस्कार प्राप्त अंग्रेजी कवि-आलोचक टी.एस. इलियट' ने कहीं लिखा है– 'ह्वाइल ए पोएट राइट्स, ही राइट्स हिज एज' यानी जब कोई कवि लिखता है, वह अपने समय को ही लिख रहा होता है। विश्व के महान कवि-लेखकों के बारे में यह सच है लेकिन इसके विपरीत एक सच और भी है और वह यह है कि कुछ लेखक अपने को ही बार-बार दोहराते रहते हैं, उनके अनुभव का घेरा इतना छोटा होता है कि पिटी-पिटाई लीक से जब निकलने की कोशिश भी करते हैं तो पारिवारिक सम्बन्धों में उलझ जाते हैं। चन्द्रकान्ता लगभग तीन-चार दशकों से उपन्यास-कहानी और कविता लिखती आ रही हैं। इनके उपन्यासों और कहानियों के केन्द्र में मुख्यतः इनकी जन्मभूमि कश्मीर होती है। बहुत हुआ तो अतीत की स्मृतियाँ उनके लेखन पर छाई रहती हैं। 'यहाँ वितस्ता बहती है', 'कथा सतीसर' वस्तुतः कश्मीर के अतीत और वर्तमान पर केन्द्रित हैं। 'ऐलान गली जिन्दा है' में भी श्रीनगर के गली-कूचे हैं। जहाँ तक कहानियों का सवाल है, उसका परिवेश भी अधिकांशतः कश्मीर से हटकर नहीं है। यह देखकर किसी भी पाठक को हैरानी हो सकती है कि एक वरिष्ठ लेखिका एक ही धुरी के इर्द-गिर्द बार-बार क्यों चक्कर काटती है?

हाल के वर्षों में संस्मरण विधा की जैसी दुर्गति हुई है, वैसी शायद किसी अन्य विधा की नहीं। कभी हिंदी में संस्मरणात्मक आत्मकथा लिखी जाती है तो कभी आत्मकथात्मक संस्मरण। अभी प्रकाशित चंद्रकांता की नई पुस्तक 'हाशिए की इबारतें' को आत्मकथात्मक संस्मरण कहा गया है। वैसे तो हिंदी में पहले भी कई लेखकों ने अपनी आत्मकथा के अतिरिक्त अपने परिजनों पर स्वतंत्र पुस्तकें लिखी हैं, खासकर डॉ. रामविलास शर्मा ने 'बड़े भाई' और काशीनाथ सिंह ने 'घर का जोगी जोगड़ा' जैसी संस्मरणात्मक पुस्तक, जिसके केन्द्र में भी परिवार है, लेकिन एक बड़े सरोकार के साथ, जिससे बाहर की दुनिया भी गहराई से जुड़ी है। लेकिन चन्द्रकान्ता की प्रस्तुत पुस्तक के केन्द्र में माँ, छोटी बहन शीला और इनकी सासू माँ हैं। ये संस्मरण मूलतः लेखिका के आत्मीय परिजनों को लेकर लिखे गए हैं। चूँकि चन्द्रकान्ता पहले भी अपने लेखन में कश्मीर तथा अपने परिवार तक सिमटी रही है, इसलिए स्वभावतः इन संस्मरणों में पुनरावृत्ति तो है ही, श्रद्धा-भक्ति और कृतज्ञता के ऋण-ज्ञापन के साथ तिलक, चन्दन का लेप भी कम नहीं है। किसी पाठक को लेखक के व्यक्तिगत जीवन में तो रुचि हो सकती है लेकिन उसके ऐसे परिजनों में कम, जिनका कोई साहित्यिक सरोकार न हो और जो कहीं से भी विलक्षण नहीं, सामान्य पारिवारिक सम्बन्धों की तरह ही होते हैं।

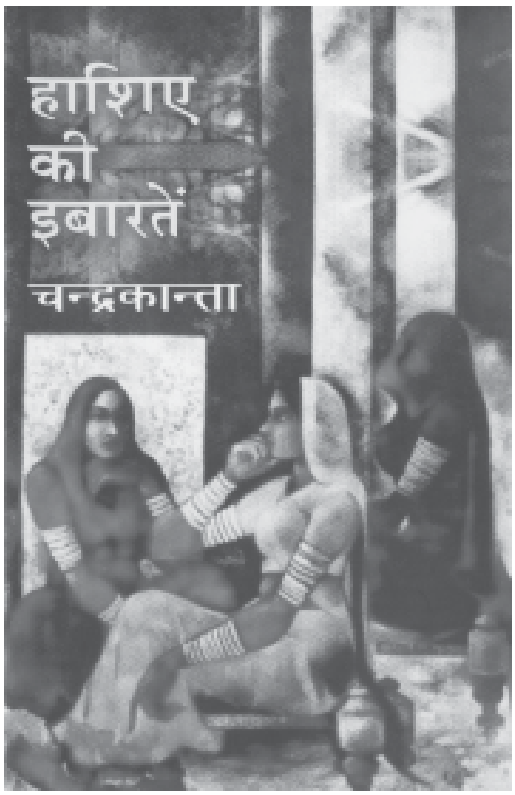

पुस्तक की भूमिका में अपनी ओर से लेखिका ने 'भीतरी तहखानों में सेंध लगाने' की कोशिश करते हुए जिस तरह 'तीन स्त्रियों' की सोच, आकांक्षाओं, स्वप्नों और संघर्षों को समझने की स्त्री-इतिहास में दखलंदाजी करने का दावा–स्त्री विमर्श के नाम पर किया है, मुझे नहीं लगता इन तीनों स्त्रियों में कहीं भी उस तरह का संघर्ष है, जिस तरह का संघर्ष आम आदमी की जिन्दगी में होता है। इसे ज्यादा से ज्यादा अपने आत्मीय परिजनों के प्रति ऋण ज्ञापन ही कहा जा सकता है। 'मेरी माँ', जिनकी मृत्यु लेखिका की कमवय यानी 6-7 साल के होते हुए टी. बी. से हुई सुख-सुविधाओं के बीच तीस वर्ष की कम आयु में हुई, जीवन-मृत्यु का सामान्य गणित है, इसमें विलक्षण क्या है? यह गोर्की की 'माँ' नहीं है। खुद लेखिका अपनी माँ, जिनका नाम सम्पत्ति था, के बारे में लिखती है, 'कौन सा सुख नहीं मिला सम्पत्ति को? सम्पन्न घर-द्वार का ऐश्वर्य, गृहणी का मान-सम्मान, पति का प्यार और फूल से बच्चे?' अब और क्या चाहिए?' जो कुछ बच गया था लेखिका ने उनकी प्रशस्ति गाथा लिखकर पूरी कर दी है। स्त्री-विमर्श का दावा तो किया गया है, लेकिन अपने विद्वान प्रोफेसर पिता रामचन्द्र पण्डित, दूसरे विवाह के समय जिनकी उम्र

32 वर्ष थी और ब्याहता लड़की (सम्पत्ति-लेखिका की माँ) की उम्र 16 वर्ष, के इस अनमेल विवाह पर कोई टिप्पणी क्यों नहीं? लेखिका स्त्री-विमर्श को किस दृष्टिकोण से देखती है, उसका यह एक दयनीय उदाहरण है। हैरानी तब होती है जब लेखिका इसे आत्ममुग्धता के कारण गौरवान्वित करती है।

'मेरी छुटकी बहन : शीला' दूसरी स्त्री है, जिसके बारे में लेखिका ने 'कौन से थे वे खतरनाक प्रश्न' शुरू में ही उठाया है। प्रश्न यह है कि लेखिका की शादी 13 वर्ष में हुई और इनकी छोटी बहन की शादी 16 वर्ष में हुई जो शादी के तुरन्त बाद माँ भी बन गई और पति ने उसे मौत की नींद सुला दिया', लेखिका यह जरूर पूछती है कि 'क्या उसने पुरुष वर्चस्व को कोई भयंकर चुनौती दी थी?' लेकिन इस प्रश्न से कतरा जाती है कि उसके विद्वान पिता ने मृत बहन के हत्यारे के प्रति कोई कानूनी कार्रवाई क्यों नहीं की। पिता का उत्तर निराश करने वाला है। स्त्री-विमर्श का दंभ भरने वाली लेखिका ने तब अपने परिवार से विद्रोह क्यों नहीं किया, यह एक बड़ा सवाल है। इतने बड़े अन्याय को चुपचाप उसने कैसे बर्दाश्त कर लिया? यह क्योंकर हुआ कि इस घटना को दार्शनिक प्रश्न बनाकर नियति के हवाले कर दिया गया। बेशक लेखिका ने 'अपने तईं कोशिश तो की, लेकिन चूक जरूर कहीं हुई।' यदि लेखिका के भीतर इस दुखद घटना के कारण पश्चाताप है तो उसे अपने विद्वान पिता को कठघरे में खड़ा करने की जरूरत थी।

पुस्तक का अन्तिम संस्मरण 'सासू माँ' को गौरवान्वित करते लिखा गया है। 'भाभीजी (सासू माँ) जन्म से ही कुछ ऐसे जीन्स लेकर पैदा हुई थीं कि बड़े-से-बड़ा मसला हल करने में न उन्हें किसी सलाहकार की जरूरत पड़ती और न किताबी ज्ञान की।...पतिप्रिया ऐसी कि केशवनाथ जी उनकी सलाह, मशवरे बिना कोई फैसला न लें। घर में उनकी बात पहली भी और आखिरी भी।' इस पर टिप्पणी करने की जरूरत मुझे महसूस नहीं होती क्योंकि पाठक खुद ही तय करें कि ऐसी गुणवंती स्त्री आखिर किस हाशिए पर खड़ी होती है। भूमिका में यह बात सामने आती है क्योंकि उन्होंने न केवल लेखिका को शादी के बाद पढ़ाई करने की इजाजत दी, बल्कि उनके लेखन को लेकर भी उन्हें प्रोत्साहित करती रहती थीं।

प्रस्तुत पुस्तक में संकलित तीनों आत्मीय संस्मरण छोटे-छोटे शीर्षकों में लिखे गए हैं, जो लुभावने और सुहावने लगते हैं जैसे–'माँ ललदह के गीत गाती थीं', 'एक अच्छी बात (शीला)', 'विरल कथाकार' और 'उत्तर राग' (सासू माँ)। पहली बात तो यह है कि यह हाशिए की इबारतें नहीं हैं क्योंकि इन संस्मरणों की स्त्रियाँ कहीं से सबाल्टर्न नहीं हैं। और न ही उपेक्षित। इसलिए भी स्त्री-विमर्श के नाम पर पुस्तक का शीर्षक 'मिसनोयर' लगता है। दूसरी बात यह है कि स्त्री-विमर्श के नाम पर इन संस्मरणों में जिस तरह का छल-प्रपंच रचा गया है, किसी भी पाठक के गले के नीचे ठीक से नहीं उतरता। फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि चन्द्रकान्ता ने अपने आत्मीय जनों के प्रति ऋण चुकाया है इसीलिए इसे मैंने पारिवारिक सम्बन्धों की आत्ममुग्ध इबारतें कहा है।

हाशिए की इबारतें, चंद्रकांता, भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003, मूल्य : 250.00

4-सी ऊना एन्क्लेव, मयूर विहार-I, दिल्ली-110091, मो. 9891349058

महात्मा गांधी अन्तरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय की संचयिता शृंखला

सं. रामचंद्र तिवारी

सं. डॉ. रमेशचंद्र शाह

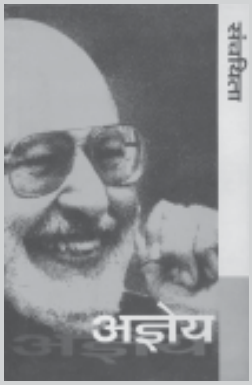

सं. नंदकिशोर आचार्य

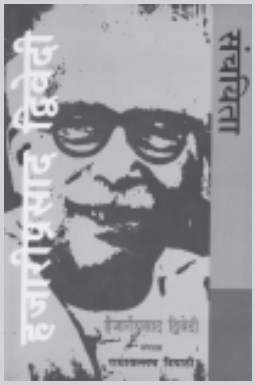

सं. राधावल्लभ त्रिपाठी

सं. नंदकिशोर नवल

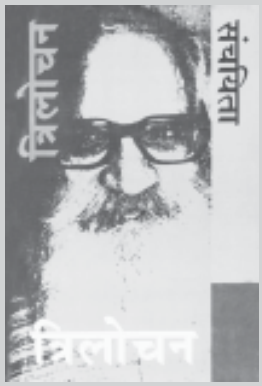

सं. ध्रुव शुक्ल

ज्ञान शांति मैत्री

महात्मा गांधी अन्तरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

आजाद भारत में आधा गाँव की बेचैनी

पुनीत कुमार

हमें आजादी के बाद के भारत की सबसे घातक त्रासदी सांप्रदायिकता को स्वीकारने में कोई हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए। बीसवीं सदी के चौथे दशक में साम्प्रदायिकता अपने संकीर्ण अर्थों में जहाँ मात्र संयुक्त प्रान्त और पंजाब सूबों में सीमित थी, धीरे-धीरे भारत के शेष हिस्से को भी अनेक बहानों और उपनामों से अपने घेरे में लेने लगी। भयाक्रान्त करने वाला रोमांचक यथार्थ यह है कि आज इक्कीसवीं शताब्दी में जहाँ सम्पूर्ण भारत साम्प्रदायिकता के विष बेलों में जकड़ चुका है, वहीं इस घातक विष वृक्ष का आधार भी विस्तृत होते-होते इस स्थिति में पहुँच गया है कि भारतवर्ष के शीर्ष न्यायालय को एक धर्म विशेष के पर्याय के रूप में संस्कृति, सभ्यता और जीवनशैली सदृश शब्दों का प्रयोग करने में कोई कठिनाई नहीं हुई।

आजाद हिंदुस्तान के तत्कालीन नीति-निर्धारकों के सामने एक प्रमुख चुनौती यह थी कि विशाल देश के सामयिक, सांस्कृतिक और धार्मिक विभिन्नताओं के वांछनीय प्रोत्साहन की प्रत्याभूति प्रदान करने वाले शासन के किस स्वरूप का वरण किया जाए, जिससे जनतन्त्र के स्तम्भों का सशक्तीकरण भी सम्भव हो और सामयिक प्रगति के मानक सोपानों की रचना भी किसी पूर्वाग्रह या असन्तुलन का आखेट न हो। अतः उनके द्वारा एक ओर जहाँ मौलिक अधिकारों, राज्य के नीति निर्देशक तत्वों, सार्वभौम मताधिकार, प्रतिनिधि शासन और संसदीय एवं संघीय शासन पद्धति को स्वीकारा गया, वहीं दूसरी ओर तदनुकूल दार्शनिक आधारों को सशक्त करने के लिए न्याय, स्वतन्त्रता, समता और बन्धुता के लक्ष्य को भी संवैधानिक सम्मन प्रदान किया गया। संविधान निर्माताओं का मंतव्य यह था कि सम्पूर्ण राष्ट्र के प्रत्येक समुदाय में और विशेषकर अल्पसंख्यकों में सुरक्षा की वह भावना प्रत्येक मूल्य पर संरक्षित होनी चाहिए, जिसकी मनोवैज्ञानिक अनुभूति उन्हें राष्ट्र की मुख्यधारा से असंपृक्त न होने दे।

कालान्तर में, धर्म निरपेक्षता को भारतीय गणतन्त्र की एक अनिवार्यता स्वीकारते हुए उसे भी संविधान सम्मत स्वरूप प्रदान किया गया। यद्यपि संविधान सम्मत स्वरूप प्रदान करने के पूर्व से ही भारतीय राज व्यवस्था ने नियमन व नियोजन के प्रत्येक स्तर पर धर्म निरपेक्षता के प्रति अपनी कटिबद्धता प्रदर्शित करने के सशक्त प्रयास किए थे, परन्तु धर्मनिरपेक्षता भारतीय गणतन्त्र की नैसर्गिक अनिवार्यता के रूप में स्वीकृत होते हुए भी अस्वस्थ अर्थों और रुग्ण प्रभावों की उन प्रतिध्वनियों से ग्रसित हो गई जिनके स्वर असंपृक्तता के उच्चारण करते प्रतीत होते हैं। इस असंपृक्तता का शिकार भारतवर्ष का सबसे बड़ा अल्पसंख्यक समुदाय निश्चित ही हुआ है।

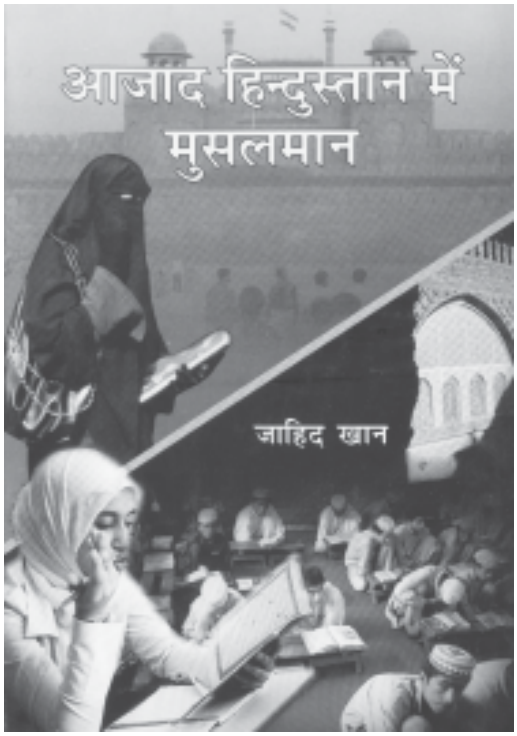

एक बार जब धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा प्रदूषित हुई तो उसका दुष्प्रभाव नीति-निर्माण और तत्सम्बन्धित क्रियान्वयन-शैली पर भी पड़ा। परिणामस्वरूप मुस्लिम समाज का अस्तित्व भारतीय राजनीति में शतरंज के मोहरे की तरह हो गया जिसे 'वोट बैंक या मुस्लिम कार्ड', सदृश्य सम्बोधनों से जाना जाने लगा। धर्म निरपेक्षता के प्रदूषण का चरमोत्कर्ष तब प्रकट हुआ जब 6 दिसम्बर, 1992 को बाबरी मस्जिद को गिरा दिया गया। इसका घटित होना सुशासन को उन आरोपों से अशेष रखता है, जिनके लिए साम्प्रदायिकता और कट्टरपंथ सदृश्य शब्दों का प्रयोग किया जा सकता है। ***'लज्जाहीन साम्प्रदायिक राजनीति भारतीय धर्मनिरपेक्ष सुशासन के लिए एक असीमित चुनौती है। इस आधार पर कुछ भी (घटित होना) सम्भव प्रतीत होता है। चित्रकारों का उत्पीड़न हो सकता है, उनकी कलाकृतियाँ नष्ट की जा सकती हैं, चलचित्र निर्माताओं को गुमसुम किया जा सकता है, निर्दोषों की निष्ठुरता से हत्या की जा सकती है। 1999 में मिशनरी ग्राहम स्टेन्स और उनके पुत्रों को निर्दयता से जीवित जला दिया गया। 2002 में तमिलनाडु में एक ऐसा विधान लाया गया कि दलित हिंदू से ईसाई या बौद्ध नहीं हो सकते। इन सबके मध्य केन्द्र सरकार द्वारा मूल्योन्मुख शिक्षा के नाम पर (2002) समर्थन प्राप्त होना (आदि***

निस्सन्देह) संविधान की भावना के अनुरूप नहीं है। इनसे भारतीय धर्म निरपेक्षता किस प्रकार कुप्रभावित हुई है? (यह प्रश्न) मूल्यांकन की माँग करता है।' ('रिराइटिंग सेकुलर गवर्नेंस, राजीव धवन, पृ. 149)

जब कोई भी चैतन्य व संवेदनशील मानसिकता इस 'मूल्यांकन' के आधार पर प्रतिक्रिया व्यक्त करती है तो परिणामस्वरूप 'आजाद हिंदुस्तान में मुसलमान' सदृश रेखांकित किए जाने योग्य रचना सक्षम आती है। युवा लेखक-पत्रकार जाहिद खान की यह पुस्तक आजाद भारत की उस त्रासदी के व्यावहारिक यथार्थ का लेखा-जोखा प्रस्तुत करती है, जिसे साम्प्रदायिकता, मिथ्या धर्मनिरपेक्षता और अल्पसंख्यक राजनीति का नाम दिया जा सकता है। उनके विचारों की धार से साम्प्रदायिकता के प्रत्येक आवरण छिन्न-भिन्न होते दिखते हैं। जब तस्लीमा नसरीन पर कट्टरपंथी आक्रमण होते हैं। तो वहाँ भी वह कहने में नहीं चूकते हैं कि–*''दरअसल, सच्चाई के हक में लिखने वाला हर लेखक संस्कृतकर्मी हमेशा से ही सरकारों के लिए खतरे का बाइस रहा है। फिर तसलीमा के मामले में तो मजहब की सीधे-सीधे मुखालिफत है। पितृसत्ता और धर्म व्यवस्था के गठजोड़ पर सबसे मारक हमला तसलीमा ने अपने लेखन के जरिए किया है जबकि धर्म हर राजसत्ता का सबसे कारगर हथियार रहा है। पहले भी धर्म का सहारा लेकर राज सत्ताएँ अपने हित साधती थीं और आज भी।'' (पृ. 98)* इसी प्रकार फासीवादी शक्तियों का विरोध करते हुए अपने एक अन्य लेख में यह कहने से नहीं चूकते हैं कि *'...फिल्म 'फना' और आमिर खान के विरोध की आड़ में यह भाषा, भाषण और अभिव्यक्ति के अधिकार पर हमला है। 'फना' की मुखालिफत के जरिए डर और आतंक का माहौल बनाया जा रहा है जिससे आगे चलकर कोई राजनैतिक, सामाजिक सरोकार जताने की हिम्मत न करे...' (पृ. 105)*

युवा समीक्षक की लेखनी से राजनीतिक दलों की स्वार्थपूर्ण नीति भी निरावृत्त होने से बची नहीं है जब वह लिखते हैं कि *''अमरनाथ श्राइन भूमि विवाद हमें सियासत का बदनुमा चेहरा ही दिखलाता है। सियासी पार्टियाँ अपने स्वार्थ की खातिर किस हद तक जा सकती हैं, इस विवाद के अध्ययन से सहज ही अंदाजा लगाया जा सकता है। अमरनाथ श्राइन बोर्ड को जमीन आबंटित करने के मुद्दे पर जम्मू-कश्मीर की क्षेत्रीय पार्टियों ने जिस तरह की असहिष्णुता और हठधर्मिता दिखलाई उसे किसी भी तरह से जायज नहीं ठहराया जा सकता।'' (पृ. 162)*

लेखक जाहिद खान की इस पुस्तक में बत्तीस आलेख शामिल हैं। ये सभी लेख देश के प्रमुख अखबारों के साथ-साथ 'समयांतर' और 'फिलहाल' जैसी गम्भीर पत्रिकाओं में छप चुके हैं, परन्तु इन सबको एक पुस्तक में संग्रहीत कर प्रस्तुत करने का काम इसलिए उल्लेखनीय है, क्योंकि इनके अध्ययन से मजबूत होती जा रही साम्प्रदायिकता और दरकती हुई धर्मनिरपेक्षता पर नए सिरे से विचार करन में गंभीर मदद मिलती है।

लेखक की तीक्ष्ण लेखनी से ऐसा कोई विषय अस्पृश्य नहीं रहा है जो गत एक दशक से भारतीय जनतन्त्र के समक्ष साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देने वाला रहा हो, भले ही उसका आवरण चाहे जितना राष्ट्रवादी और लोकतान्त्रिक प्रतीत होता हो। इन लेखों में एक ओर सच्चर कमेटी रिपोर्ट, मिश्र आयोग की रिपोर्ट, सेना में मुसलमानों की गिनती, एक तरक्की पसन्द फतवा, 2002 के गुजरात दंगों पर इन्साफ की पुकार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता जैसे वे मुद्दे हैं जिन्हें सम्भावनाओं की श्रेणी में रखा जा सकता है तो दूसरी ओर ऐसे आलेख भी हैं जो सम्बन्धित विषयों के षड्यन्त्रकारी चरित्र से विवेकपूर्ण मुठभेड़ करते दिखाई देते हैं। ऐसे लेखों में प्रमुख हैं 'फिर कटघरे में अल्पसंख्यक', 'सोहराबुद्दीन फर्जी मुठभेड़', 'आर.एस.एस. पर प्रतिबन्ध हटाने से पहले', 'श्रीकृष्ण कमीशन की रिपोर्ट पर कब होगी अमलदारी', 'बीजेपी एक बार फिर हिंदुत्व और सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की राह पर', 'क्या मुल्क और संविधान से ऊपर हैं ठाकरे', 'संघ परिवार के राष्ट्रवादी चेहरे का पर्दाफाश', 'कंधमाल के गुनहगार' और 'नानावटी आयोग की रिपोर्ट का सच' इत्यादि।

'आजाद हिंदुस्तान में मुसलमान' पुस्तक में संग्रहीत लेखों का अध्ययन करते समय तीन उपन्यास बड़ी शिद्दत से याद आते हैं। ये हैं राही मासूम रजा का 'आधा गाँव', शानी का 'काला जल' और मंजूर एहतेशाम का 'सूखा बरगद'। इन तीनों रचनाओं को मुस्लिम समाज के किरदार और उनकी जिन्दगियों का साहित्यिक दस्तावेज माना जा सकता है। उपन्यास 'आधा गाँव और काला जल' सन सैंतालीस के आसपास के कालखंड में सिमटे हुए मुस्लिम जीवन की विसंगतियों और विडम्बनाओं की पड़ताल करते हैं तो 'सूखा बरगद' स्वतन्त्रता के दशकों के उपभोग के पश्चात् भी मुस्लिम समाज के अन्तर्विरोधों का सशक्त खाका खींचता है। 'आजाद हिंदुस्तान में मुसलमान' इन तीनों साहित्यिक दस्तावेजों का पूरक इस अर्थ में प्रतीत होता है कि इसमें मुस्लिम समाज के उन अन्तर्विरोधों, विडम्बनाओं, पिछड़ेपन और धर्मनिरपेक्षता के साम्प्रदायिक चेहरों का पर्दाफाश किया गया है, जो उन उत्तरदायी कारकों द्वारा सम्पन्न किया जा रहा है जिन्हें इनका समूल नाश करना था। इस पुस्तक में इन अन्तर्विरोधों के तथ्यात्मक विवरणों का विस्तार से वर्णन है।

अन्ततः यह कहा जा सकता है कि लेखक जाहिद खान की यह प्रथम पुस्तक एक संवेदनशील, पठनीय व संग्रहणीय कृति है। जहाँ तक भाषा का प्रश्न है लेखक के इस प्रयत्न का यद्यपि सभी आलेखों में अनुभव होता है कि उर्दू-फारसी के कुछ शब्दों यथा– 'गुजिश्ता', 'ग र', 'पसमंज र', 'गोया', 'सरअंजाम', 'अमलदारी' का प्रयोग सायास किया गया है जिनसे यह सोचकर बचा जा सकता था कि जिन लेखों में इनका प्रयोग किया जा रहा है वे सब जनसामान्य के विषय हैं। और ये शब्द जनसामान्य की भाषा में उस तरह से प्रचलित नहीं हैं। इसी प्रकार प्रूफ की त्रुटियाँ भी कहीं-कहीं कष्टदायक लगती हैं। फिर भी कुल मिलाकर पुस्तक 'आजाद हिंदुस्तान में मुसलमान' अपने उद्देश्य में सफल प्रतीत होती है और वह उद्देश्य है शासन व प्रशासन के साथ-साथ जनता को भी यह अनुभूत कराना कि भारतवर्ष एक संप्रभु, समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष लोकतान्त्रिक गणतन्त्र है।

आजाद हिंदुस्तान में मुसलमान, जाहिद खान, प्रकाशन कॉन्फ्लुएंस इंटरनेशनल, 203/ई-588, ग्रेटर कैलाश-प्प, नई दिल्ली-110048, मूल्य 225 (हार्ड बाउंड) 60 (पेपर बैक)

आकाशवाणी के पीछे, साईंस कॉलेज होस्टल, शिवपुरी-473551 (म.प्र.), मो. 094254-29428

मुकुट बिहारी सरोज : शब्दों का योद्धा सेनानी

महेश कटारे

बड़ा कठिन होता है उस आदमी के बारे में कुछ कहना जिसे आप उसकी जानी-पहचानी अच्छाइयों-बुराइयों के साथ आदर से स्मरण करते हों। शायद यह कहना अधिक सही होगा कि जो आदमी अपने मुहावरों के साथ जेहन में उतर आता हो। मुकुट बिहारी सरोज की कविताएँ मुहावरे की क्षमता धारण करने वाली कविताएँ हैं और यह कहना कुछ अतिशयोक्ति लगे पर लगता है कि वे मुहावरा बन चुके बड़े कवियों के साथ भले न खड़े हों किन्तु उस वृत्त में कहीं अवश्य खड़े दिखते हैं।

वजह...? वजह उनकी कविता का जन-जीवन से उसी की सहज-भाषा में जुड़ाव। मैं कहना चाहूँगा कि सहज होना सरल होना नहीं होता है। सहजता कठिन साधना से उपलब्ध होती है। शब्द कोश में तत्सम और तद्भव शब्दों की कोई कमी नहीं है पर जीवन के बीच से सार्थक शब्द चुनकर रचना में पिरोना गहन संलग्नता व अध्यवसाय की अपेक्षा रखता है।

सरोज जी को जानते-पहचानते हुए चौथाई सदी से अधिक समय बीत चुका है गो कि कवि के रूप में उन्हें बहुत पहले से जानता था...शायद सन् 64 के आसपास से, जब भिण्ड जिले की गोहद तहसील के गाँव से मिडिल पास करने के बाद हायर सेकेन्डरी में पढ़ने के लिए मैं ग्वालियर-शहर की छावनी मुरार के छह रुपये मासिक किराए वाले बोर्डिंग हाऊस में रहता था। उन दिनों कवि सम्मेलन सामाजिक जीवन का अनिवार्य हिस्सा थे (बीस तीस घरों के बीच कोई एकाध रेडियो होता। दूरदर्शन तो सुना तक न था)। शादी-ब्याह, मुण्डन, जन्मदिन तक पर कवि सम्मेलन हो जाते। गणेशोत्सव में तो दस दिन तक कवियों की चाँदी कटती थी...चाँदी अर्थात् दस से बीस रुपये तक का मानदेय और रात-रात भर तीन-तीन दौर में कविताएँ।

वे कवि, खिलाड़ी, पहलवान, नाट्यकर्मी वगैरह हम छात्रों के हीरो थे। कवियों में जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द, वीरेन्द्र मिश्र, मुकुट बिहारी सरोज, आनन्द मिश्र, शन्तिस्वरूप 'चाचा' व पत्रकार-कवि प्रकाश दीक्षित का लँगोट फहराता तो खिलाड़ियों में मेजर ध्यान चन्द के भ्राता कैप्टन रूपसिंह अपनी अधेड़ साइकिल पर जिस रास्ते से गुजरते वहाँ उन्हें देखने भीड़ लग जाती। ग्वालियर मेले के कवि सम्मेलन में देश के शीर्षस्थ कवि, गीतकार बुलाए जाते। हम लोग रजाई, कम्बल लपेटकर रातभर की तैयारी के साथ वहाँ पैदल जाते थे...हमारे कुछ शिक्षक भी साथ होते। उन दिनों चीनी हमले की हार और अपमान का घाव ताजा था...कविता वीररस से सराबोर होती थी जिसमें पेइचिंग हमारी तोपों के मुहाने पर काँप रहा था... चाउएन लाई व माओत्से तुंग चाऊमाऊ नाम के चूहेमार बिल्ले घोषित थे। कवि सम्मेलन में एक वीर कवि ने कविता गाई–'हम चीन की दीवार पर सौ सौ तिरंगे तान देंगे।' श्रोताओं की ओर से तालियों की गड़गड़ाहट हो गई। कवि गद्गद्। जनता की इस प्रतिक्रिया को कवि सम्मेलनी शब्दावली में 'मंच लूटना' कहा जाता था। कवि ने पंक्ति

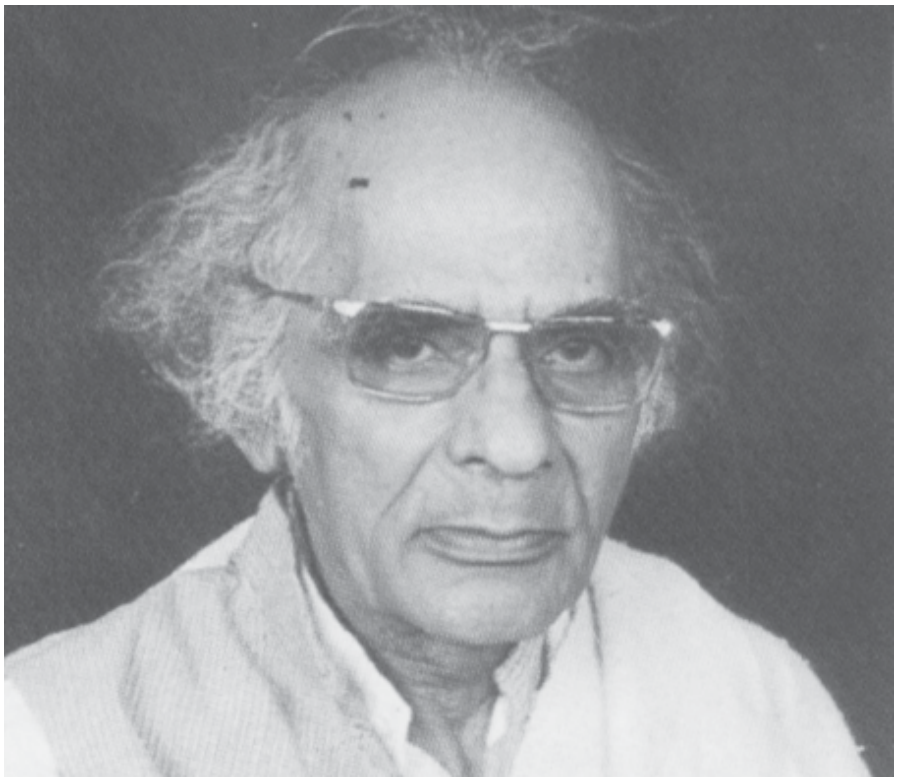

दुहराई...फिर तालियाँ...तो तीसरी बार भी यही पंक्ति गा दी। सरोज जी मंच पर बैठे थे और निश्चय ही सुरूर में होंगे क्योंकि जनवरी की ठण्ड में सुरूर बिना कविता गर्म ही न हो पाती थी। मेला प्रबन्धन की ओर से बकायदा सत्कार-व्यवस्था की जाती थी।. ..'मुफ्त का चन्दन तो घिस मेरे नन्दन।' बहरहाल सरोज जी ने कहा–'भई वाह... बहुत खूब...तीन बार में तीन सौ झण्डे हो गए, अब आगे बढ़ो...वाह....। कवि शायद किसी अन्य कवि के लिए लूटने को कुछ भी नहीं छोड़ना चाहता होगा इसलिए उसने चौथी बार भी चीन की दीवार पर तिरंगे तान दिए। इसके बाद ही हम सबने ध्वनि विस्तारक यंत्रों के माध्यम से सरोज जी की आवाज सुनी–'मूर्ख! सिपाही तेरी टाँगों के मध्य स्टेनगन डाल देगा।'

मुकुट बिहारी सरोज के व्यक्तित्व तथा काव्य-प्रकृति समझने के लिए एक जिक्र और जरूरी लग रहा है। आपातकाल के दिन थे...काँग्रेसी नेताओं से बड़े-बड़े काँपते थे। मैं स्वयं पढ़-लिखकर युवा काँग्रेसी व इस नाते तहसील स्तरीय बीस सूत्री समिति का सदस्य था, जिसे शासकीय स्तर पर काफी कुछ अधिकार सौंपे गए थे। ग्वालियर में स्वतन्त्र प्रभार वाले मन्त्री जी किसान पृष्ठभूमि से थे...कुछ ईमानदार और सादा। यूँ भी उन दिनों सरकारी बेईमानी लगभग स्थगित हो गई थी, क्या पता कोई सीधे इन्दिरा जी को पत्र लिख दे। कलेक्टर, एस.पी. रासुका जेब में लिए घूमते थे...छह महीने तक कोई सुनवाई नहीं। प्रशासन हर हफ्ते मन्त्रीजी के यहाँ हाजिरी बजाते हुए प्रकट या गुप्त मन्त्रणा करता था कि किसे अन्दर पहुँचाया जाए, किसे बाहर। तो उन्हीं दिनों सरकारी हायर सेकेन्डरी स्कूल के सालाना जलसे में मन्त्री जी मुख्य अतिथि बनकर पहुँचे। कार्यक्रम का संचालन सरोजजी के जिम्मे था–वही कलफदार सँकरी मोहरी के पायजामे पर लम्बा कुर्त्ता और सदरी। सफाचट मूँछें, औसत चेहरे की चौड़ी पेशानी के ऊपर फैले, छितरे, लहराते, चितकबरे केश। मन्त्री जी स्थानीय होने के नाते परिचित थे सो उन्होंने अपने भाषण से पहले सरोज जी से एक कविता सुनाने की फरमाइश रख दी। कवि उसी विद्यालय में हिंदी अध्यापक! मना करने पर आग्रह और भी प्रबल, सार्वजनिक हो गया। कवि ने फिर संकोच जताया–'मेरी कविताएँ कुछ ऐसी-वैसी होती हैं।'

'तभी तो मजा देती हैं' मन्त्री जी ने प्रशंसा की।

'तो फिर लीजिए मजा।' कहते हुए सरोज जी सामने फैले श्रोताओं को उन्मुख हुए तथा मन्त्री जी की ओर हाथ बढ़ाते सुनाने लगे। जिन्होंने उन्हें कविता पढ़ते देखा सुना है, वह जानते हैं कि उनके गीत का अपना छन्द और सुनाने की अपनी अदा थी। भाषा के साथ काया भी बोलती थी। कविता हुई–

'इन्हें प्रणाम करो,
ये बड़े महान हैं।
प्रभुता के घर जन्मे, समारोह ने पाले हैं
इनके ग्रह, मुँह में चाँदी की चम्मच वाले हैं
उद्घाटन में दिन, काटें रातें अखबारों में –
ये, शुमार होकर ही मानेंगे अवतारों में
ये तो बड़ी कृपा है, जो ये दिखते भर इन्सान हैं,
इन्हें प्रणाम करो, ये बड़े महान हैं।'

मंच पर सन्नाटा छा गया और नीचे तालियाँ बज रही थीं। मुँह बाए मन्त्रीजी तमतमाई हँसी समेटकर हँसने लगे...सरोज जी सुनाए जा रहे थे। सरासर बिल में हाथ डालने की हिमाकत थी यह कविता, पर जारी थी। हम सब आशंकित थे पर वह सुरक्षित रहे। मन्त्रीजी ने कविता को दिल पर नहीं लिया...कवि वगैरा हैं, कहने दो, क्या फर्क पड़ता है? आशय यही कि मुकुट बिहारी सरोज अपनी असहमति एक सीमा तक ही दबा पाते थे। उन्होंने अपनी प्रतिबद्धता भी कभी और कहीं नहीं छिपाई।

उनसे मेरी अंतरंगता ग्वालियर की नई सड़क के दासों पर आते-जाते बढ़ी। ये दासे शहर भर के ठलुओं, कवि, लेख, कलाकारों पत्रकारों का अड्डा थे। बताते हैं कि परिवार के पाकिस्तान चले जाने पर न जाने की जिद पाले निदा फाज ली ने महीनों को इन्हीं दासों के आश्रय में काटा था। यहाँ सूरज ढलने के बाद गुट जमना शुरू होते। दुकानें बन्द होतीं...तो दासों पर कब्जा होता जाता। कुछ फाकामस्त तो कुछ फाकामस्तों के सत्संग के सुखेच्छु। दस बजे तक कट चाय चलती उसके बाद सोल्जर कट देसी या अँग्रेजी। स्थानीय से अन्तरराष्ट्रीय मुद्दों तक पर चर्चा कभी-कभी इतनी घनघोर हो जाती कि फौजदारी होते-होते बचे। एक-दो दिन का अबोला और गाड़ी फिर पटरी पर। सरोज जी चुप्पी का बड़प्पन साधे चेहरे की भौहों में व्यंग्य व आँखों में हिकारत भरते 'बड़ों' के लिए मात्र एक शब्द उच्चारते–'भोसड़ी के'। उस समय उनको देखने पर लगता था जैसे संसार के सारे करोड़पति उनके सामने चीटीं की तरह रेंग रहे हों।

अपना खुद का हाल वह मित्र के नाम 'एक खुली चिट्ठी' में इस तरह बयान करते हैं –

'घर पर सब आराम चैन है
वही दिवस है वही रैन है
संगम, बादल ठीक ठाक हैं
दोनों की दो अलग नाक है
कपड़े उनके फटे हुए हैं
किन्तु बाल तो कटे हुए हैं
रहते हैं धरती पर लेटे
मुझ जैसे गरीब के बेटे
फिरते रहते हैं मन मारे
पिसे जा रहे हैं बेचारे

दूध नहीं पानी पीते हैं
जाने वे कैसे जीते हैं।'

यह था आम जीवन जिसमें अगली पीढ़ी अर्थात् भारत का भविष्य पल रहा था। 'इंडिया' के मँहगे अँग्रेजी स्कूलों में अठखेलियाँ करते भविष्य या फ्यूचर से बिल्कुल उलट। इसी असमानता ने सरोज के गीतों में तल्खी व व्यंग भरा है, वह इस सूरत को बदले जाने के हामी थे। मंच पर या गोष्ठी में जब किसी कवि-कवयित्री द्वारा नाज नखरों वाला या आकर्षक विरह वेदना भरा सुकुमार श्रृंगारिक गीत पढ़ा जाता तो वह वाह-वाह में सिर हिलाकर ऐसी दाद देते जैसे उसकी समझ पर तरस खा रहे हों अथवा कविता की दुर्गति पर सिर धुन रहे हों।

यह एक खुला हुआ सच है कि मुकुट बिहारी सरोज की कविता गरीब की भाषा में गरीब के लिए, गरबीली गरीबी की कविता है जो आम आदमी तक पहुँचने के लिए किसी व्याख्या की अपेक्षा नहीं रखती। इसीलिए वह जनकवि हैं, उनकी कविता का फलसफा मेहनत के ईमानदार गर्भ से जन्म लेकर जीवन के उत्सव व संघर्ष का आख्यान बनता है। उनके लिए जीवन वह नहीं जो जिया अथवा भोगा जाता है अपितु इससे अधिक वह है जिसे हम जीना चाहते हैं। गीत का आशय उनके यहाँ प्रिय छवि की कोमल भंगिमा के कटाक्ष, चन्द्रमुख की मनुहार व पायल की रुनझुन का मधुर संगीत नहीं है, उसमें विचार, व्यवहार के संयोग से 'दी हुई दुनियाँ' को बदलने की पुकार है। उनके गीतों को इसीलिए हरिशंकर परसाई और शरद जोशी के गद्य के साथ रखा जाता है कि उनसे गीत को संघर्ष को तेवर मिला है।

'तुम लगा लो आग अपने तन-बदन में
ले मजा बादल तुम्हारे इस हवन में
तुम गुलाबों की ललाई खून से दो
पर नहीं चोरी-छिपे, कानून से दो
डाल का काँटा न जाए रूठ, मधुवन
क्या कहेगा...।'

उनके अनुभवों ने सिखाया था कि फूल से काँटे की जिन्दगी बड़ी होती है तथा सुगन्ध की अपेक्षा चुभन देर तक साथ रहती है। बिना दंश की क्षमता के कोमलता और सुन्दरता की रक्षा भी नहीं की जा सकती। उनकी दुनियाँ फूल और काँटा दोनों को अलग रखबर बनती थी। चिकने, सुविधाजनक परजीवी संसार से उन्हें स्पष्ट परहेज था–

'स्वर्ण कलशों में भरे मणियाँ
हजारों देवता भागे
झुक गई लेकिन करोड़ों बार
संपत्ति, धूल के आगे
धूल की कैसे खरीदेगा अकिंचन आबरू
राख में लिपटे पड़े हैं सैकड़ों भगवान
पंथ दौलत से न जीता जाएगा नादान।'

इस तरह मुकुट बिहारी सरोज दौलत के देवताओं को ठेंगे पर लिए रहे। उनकी कविता श्रोताओं को गुदगुदाने, मुगालते की काल्पनिक मूर्च्छा में पहुँचाने की अपेक्षा सदैव उन खतरों से सचेत करने का काम करती रही जिनसे सामाजिक जीवन का सत्व व लोकतान्त्रिक शक्ति क्षीण होती है। यह शक्ति लोक में निहित है अतः उनके बिम्ब, प्रतीक, मुहावरे खाँटी जीवन से अनुस्यूत हो मिथ्या सत्यों को बेपरदा करते हैं–

'एक ओर परदों के नाटक एक ओर नंगे
राम करे दर्शक दीर्घा तक आ न जाएँ देंगे
अव्वल मंच बनाया ऊँचा जनता नीची है
उस पर वर्ग-वर्ग में अन्तर रेखा खींची है
समुचित नहीं प्रकाश व्यवस्था, अजब अँधेरा है
उस पर सूत्रधार को खलनायक ने घेरा है
पात्रों की सज्जा क्या कहिए जैसे भिखमंगे
राम करे दर्शक दीर्घा तक आ न जाएँ दंगे।'

यह कविता सातवें दशक की है पर यह रूपक आज भी उतना ही सटीक है। कोई रचना इतिहास में अपनी लम्बी यात्रा ऐसी ही भविष्य दृष्टि लेकर तय करती है। लोकतान्त्रिक व्यवस्था में विसंगतियों के चहबच्चे खोलने का काम रचनाकार की जिम्मेदारी बन जाती है...वह साधन सुविधाहीन प्राकृतिक विपक्ष होता है जो सत्ता के सामने सवाल खड़े करता है–

'क्यों जी!
ये क्या बात हुई?
ज्यों ज्यों दिन की बात की गई त्यों-त्यों रात हुई।
जितना शोर मचाया घर में, सूरज पाले का
उतना काला और हो गया वंश उजाले का
धूप गई सो गई; किरणा की कोर नहीं मिलती
उस पर ये आनन्द कि चारों ओर नहीं मिलती
जैसे कोई खुशी किसी मातम के साथ हुई,
क्यों जी,
ये क्या बात हुई?'

सामाजिक, सांस्कृतिक ह्रास के लिए जिम्मेदार शोषक राजनैतिक व्यवस्था में सुधार होते न पा वह व्यग्र हो जनता को सीधे-सीधे क्रान्ति के लिए जगाते हुए सीमित हिंसा की पक्षधरता तक जा पहुँचने हैं–

'मरहम से क्या होगा, ये फोड़ा नासूरी है
अब तो इसकी चीर-फाड़ करना मजबूरी है
अब तुम कहो कि ये तो हिंसा है
होगी, लेकिन बहुत जरूरी है।'

यह कहना और समझना भी जरूरी है कि कवि कोई देवता नहीं होता जो स्तुति चाहे। सरोज जी भी देवना न थे बल्कि देवताओं से उनकी ठनी ही रहती थी। कैंसर जैसे रोग से लड़ते हुए काल को बार-बार गच्चा देने में उन्हें मनुष्य की जीत दिखाई देती थी। मनुष्योचित राग, रोष जैसी कमियाँ भी उनमें थीं। थोड़ी-सी हम जैसे जानते हैं, बहुत श्रीमती कामरेड गायत्री सरोज जानती होंगी जिन पर कवि सरोज के संग-संग रोज ब रोज बुलाए और गैर बुलाए पहुँचने वाले शिव-गणों के सत्कार का भार रहता था। दस बाई नौ के बाहरी कमरे की दरी पर अतिथि सतिथि किस्म के नक्षत्र बिराजमान हैं...बाहर से भीतर की ओर फरमाइश फेंकी जा रही है और...। भीतर से झुँझलाहट और क्रोध भी सुनाई पड़ जाता पर हँसी के साथ वही मनुहार की आवाज–'चलिए, आज बस इतनी सी व्यवस्था बना लो, कल की हमारी जिम्मेदारी, और भीतर से प्लेट/प्लेटों में कुछ न कुछ आ पहुँचता।

साँवले रंग में खुलते कद वाला, शहर की सड़कों के किनारे सोच में डूबा हुआ-सा पैदल गुजरता यह जनकवि अब दिखाई नहीं देता पर गंगा-जमुनी भाषा वाले उसके शब्द अब भी हमारे साथ-साथ चल रहे हैं।

निराला नगर, सिंहपुर रोड, मुरार, ग्वालियर (म.प्र.)-474006 मो. 09425364213

डायरी

कवि का गद्य-वैभव

सुवास कुमार

विजेन्द्र हमारे समय के उन महत्त्वपूर्ण रचनाकारों में से हैं जिन्होंने समकालीन रचना-परिदृश्य में लगातार गम्भीर लेखन करते हुए अपनी सार्थक उपस्थिति और साख बनाए रखी है। उनकी कविताओं, चित्रों 'कृति ओर' के संपादकीयों से हिंदी पाठक परिचित हैं। अब वे *कवि की अन्तर्यात्रा* नाम से अपनी प्रकाशित डायरी लेकर आए हैं जो जाहिर है कि बहुत निजी नहीं है, अगर रही भी हो तो बेहद निजी प्रसंगों को, सम्भव है, सम्पादित कर दिया गया हो। इन डायरियों के समय–1968 से 1996–का ज्यादातर हिस्सा साहित्य-समाज के प्रश्नों-प्रसंगों से जुड़ा हुआ है। यहाँ चिन्तन, समीक्षा, दर्शन सब कुछ है जिन्हें लेखक ने अपनी तरतीब दी है। पाठक को ऐसा भी महसूस हो सकता है गोया कई बार डायरी के रूप में अच्छा-खासा आलेख ही लिखा गया है। ऐसे आलेखों में स्वभावतः वैसी सायास वस्तुनिष्ठता है जिसे डायरी विधा के लिए दुर्गुण ही माना जाएगा। मगर इससे इन आलेखों का अपना महत्त्व कम नहीं हो जाता। इन डायरियों से विजेन्द्र के चिन्तन और विचारों से पाठक जितना परिचित हो पाता है उसकी अपेक्षा बहुत कम विजेन्द्र के व्यक्ति, पारिवारिक और सामाजिक जीवन से। हालाँकि विजेन्द्र की आन्तरिकता की झाँकियाँ जहा-तहाँ अवश्य दिखाई पड़ती हैं किन्तु डायरियों में अमूमन लेखक की कमजोरियों, भयंकर भूलों, पछतावों, आत्म-स्वीकृतियों आदि के उल्लेख से जो वह पड़ोस के आदमी जैसा लगता है वैसी स्थितियाँ यहाँ नहीं के बराबर हैं। अगर विजेन्द्र ने डायरी को विशेष उद्देश्यपरक बनाने के लिए संशोधित करके प्रकाशित नहीं किया है तो मानना होगा कि यहाँ कई शैलियों का घालमेल है जिसमें डायरी शैली को थोड़ी ही जगह मिली है, जबकि विजेन्द्र तैंतीस साल की परिपक्व आयु से लगातार डायरियाँ लिखते आ रहे हैं।

हिंदी में बहुत-से लेखकों ने अपनी डायरियों में सूक्तियाँ चुन-चुन कर रचीं और छपवाई हैं। बहुतेरे कवि कविताओं में प्रायः डायरी और डायरी में कविता लिखा ही करते हैं। विजेन्द्र भी 'कई शैलियों' में डायरी लिखते रहते हैं। मेरा ख्याल है कि 'ओर' ('कृति ओर') में उन्होंने सौन्दर्यशास्त्र-सम्बन्धी जो नोट्स प्रकाशित किए थे वे मूलतः डायरियों में लिखे गए थे (पर डायरी के 'रूप' में नहीं)। विजेन्द्र का यह सौन्दर्यशास्त्रीय चिन्तन लेख बनकर उपस्थित हुआ है और वैसा 'मोनोलागिक' या फिर 'डायलागिक' रचनात्मक स्वरूप नहीं अख्तियार कर पाता जैसा मुक्तिबोध की 'एक साहित्यिक की डायरी' में मिलता है (भले ही एकाध स्थल पर विजेन्द्र स्वयं को अन्य पुरुष के रूप में सम्बोधित करते मिलते हों)। मुक्तिबोध की डायरी में तर्क-वितर्क को जिस प्रकार से व्यंग्य-विनोद-मिश्रित शैली में कथात्मकता का रहस्यावरण दे दिया गया है वह चकित-विस्मित करता है। डायरी कवि-आलोचक मलयज ने भी लिखी है जो उनके स्वाध्याय और चिन्तन को ही प्रमाणित करती है। यही बात पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित रमेशचन्द्र शाह की डायरियों (जो सुना है, पुस्तकाकार छप चुकी है) के बारे में भी कही जा सकती है। यह परम्परा निरन्तर बनी हुई है–मंगलेश डबराल और एकान्त श्रीवास्तव–जैसे कवियों ने भी कवितानुमा गद्य में डायरी लिखी है।

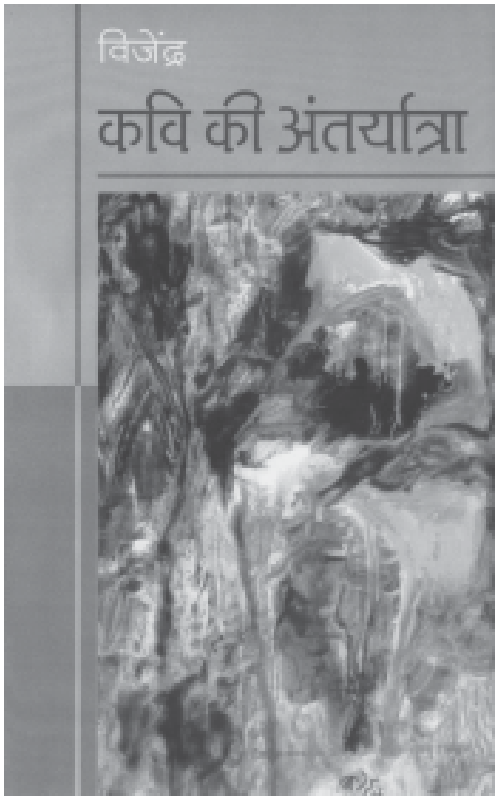

मगर विजेन्द्र की इस अन्तर्यात्रा का अपना ही वैशिष्ट्य और महत्त्व है। डायरीकार ने डायरियों में विषय और विचारों का तारतम्य ढूँढकर, चुनकर उन्हें मानो तरतीब देने का प्रयास किया है, फलस्वरूप इन्हें तीन खंडों–'दर्शन की आँख' (1987 की डायरी), 'सौन्दर्य-सृष्टि' (1994-96 की डायरियाँ) और 'दिक्काल' (1968-80 की डायरियाँ)–में प्रस्तुत किया है। 'दर्शन की आँख' से विजेन्द्र का आशय मार्क्सवादी समाजदर्शन से है जिसने कवि के भीतर की 'तीसरी आँख' खोल दी। लेकिन विजेन्द्र मार्क्सवादी सिद्धान्तों की गहरी परिचिति और बारीक समझ के साथ-साथ अपनी गौरवपूर्ण परम्परा को आलोचनात्मक दृष्टि से आत्मसात् करने को भी महत्त्वपूर्ण मानते हैं। उनका निश्चित मत है कि दिशाहीन रचना जीवन और

प्रकृति का निषेध है। मार्क्सवाद से विजेन्द्र को किसान या श्रमिक को 'लोकपुरुष' मानने की समझ मिली है। मगर जब वे सभ्यता और संस्कृति की बात प्रायः समानार्थी रूप में करते है। या बताते हैं कि 'लोक भद्रता का उलट है' तो लगता है जैसे रीतिकालीन कवि बिहारीलाल कविताई के जोम में आकर लोक को 'गँवार' कह बैठे हों। ऐसा ही सरलीकरण–जैसा उनका वह कथन ही लगता है जहाँ वे गीत और कविता का अन्तर बताए बगैर कहते हैं कि 'निराला के गीतों में कविता के गुण अधिक विद्यमान हैं।' ऐसा प्रतीत होता है कि विजेन्द्र कविता की बनिस्बत गीतों में तात्कालिकता, संकोच और सीमित प्रभाव–जैसी सीमाएँ पाते हैं। वे 'सामाजिक चिन्ता' से परिचालित 'यथार्थवादी सौन्दर्यशास्त्र' की बात करते हैं। विजेन्द्र का विचारक मन जीवन में व्यर्थता के बोध से बड़ा क्षुब्ध होता है–''जहाँ देखो सार्थकता का गला घोंटा जा रहा है।'' सार्थकता क्या कोई निरपेक्ष तत्व है? क्या भारत जैसे निरक्षर, निर्धन लेकिन विकासशील देश में जीवन की सार्थकता का वही मतलब है जो विकसित देशों में है? क्या इस सार्थकता की हरेक व्यक्ति की एक जैसी अवधारणा होती है? विजेन्द्र ऐसे सवाल नहीं उठाते बल्कि मानकर चलते हैं कि सार्थकता की उनकी परिभाषा ही सार्वभौम, सार्वकालिक अगर नहीं भी हो तो सर्वमान्य तो होनी ही चाहिए। इसी तरह वे ज्ञान को बँधे-बँधाए खाँचे में रहकर देखने के हिमायती लगते हैं। वे यथार्थ की बात तो बहुत करते हैं मगर यथार्थ के स्वरूप पर विचार नहीं करते। 'कल्पना शून्य में खड़ी नहीं हो सकती'–जैसी बार-बार दुहराई गई बात वे भी कहते हैं। मनोविज्ञान मानता है कि प्रज्ञान (Intution) तो किसी *अज्ञात* की पूर्वकौंध (flash) के समान होता है और अध्यात्म में निर्गुण-निराकार परब्रह्म तथा विज्ञान में 'ईथर'–जैसी अनेकों मानवीय कल्पनाओं का आधार शून्य में खड़ा होता रहा है। स्वयं शून्य की कल्पना से गणित तथा अन्य विद्याओं में कितने ही प्रकार के अमूर्तन (abstractions) सम्भव हो पाए जिनका यथार्थ असंदिग्ध है। इसी तरह यह दो टूक कहना भी कठिन है कि तर्क और भावना में सत्य के निकट कौन है। वस्तुतः मार्क्सवादी सिद्धान्तों के तहत इन प्रश्नों पर विचार किए जाते रहे हैं। और द्वन्द्वात्मकता के मूल नियमों (basic laws of dialectics) के अतिरिक्त कई मूलेतर नियमों (non-basic laws) की चर्चा इस सिलसिले में होती रही है जिनका गहरा सम्बन्ध मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र के विकास से है। विजेन्द्र 'मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र का समूचा ढाँचा 'प्रतिबिम्बन' के सिद्धान्त पर टिका' हुआ पाते है। और एक कवि-चित्रकार होने के नाते/बावजूद मानते हैं कि ''मूर्तन की समृद्धि रचना में अनिवार्य है।'' मानो मूर्तन अनिवार्यतः भाववादी (मार्क्सवाद-विरोधी) ही हो। फिर भी वे सही परिलक्षित करते हैं कि ''जीवन हर बार मनुष्यकृत नियमों को तोड़कर आगे बढ़ता है।'' अब यह बात और है कि कुछ अति उत्साही लोग कई बार मार्क्सवाद को भी 'मनुष्यकृत' से ऊपर की चीज मानने लगते हैं।

विजेन्द्र जी रस को रचना का स्वभाव ('आत्मा'?) मानते हैं–''भारतीय काव्यशास्त्र में जो 'रस' है वह रचना का ही धर्म है।'' वे रस को ही सौन्दर्यबोध भी मानते हैं–''सौन्दर्यबोध से ही रचना की पहचान होती है।... *भारतीय सौन्दर्यशास्त्र* में भी कहा गया है कि हम सौन्दर्यशास्त्र के नियमों की अवहेलना नहीं कर सकते। वे नियम तात्कालिक नहीं हैं। मसलन छन्दों को तो संस्कृत आचार्यों ने आवश्यक नहीं माना। लेकिन *रस* से निजात नहीं। अर्थात् सौन्दर्यबोध कराने वाली रचना ही काव्य है, चाहे छन्द है या नहीं।'' यानी विजेन्द्रजी सौन्दर्यशास्त्र (aesthetics) और भारतीय काव्यशास्त्र (Indian poetics) को एक मानकर चलते हैं। ऐसे में बातों का सरलीकरण और सामान्यीकरण नहीं होगा तो क्या होगा? सौन्दर्य के नियम रचना-विशेष के हित में क्या सीमित किए जा सकते हैं? क्या रस, जो सीमित स्थायी भावों, अनुभावों, विभावों आदि के सहारे टिका हुआ था, आज भी उसी रूप में रचना से जुड़े सौन्दर्य के सभी आयामों और आशयों को उद्घाटित करने में सक्षम हो सकता है? क्या शुक्लजी रसवादी थे? यदि रस ही काव्यास्वाद और काव्य-समीक्षा की एकमात्र कसौटी बन सकता तो आज के समीक्षक रस-प्रतिमान को भुला क्यों बैठे? क्या विजेन्द्रजी रस-सिद्धान्त में रीति, अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति, औचित्य सिद्धान्तों को भी जोड़ना चाहेंगे? यह सब विजेन्द्रजी के विवेचन से स्पष्ट नहीं होता। इसी अस्पष्टता के चलते उनके इस तरह के वाक्य भी निर्विवाद नहीं कहे जा सकते हैं ''सौन्दर्य मूर्त्त है। वह वस्तु में अन्तरवस्थित है, उससे अलग नहीं।'' विजेन्द्रजी ने 'कैसे क्या करूँ' शीर्षक से शैली से जुड़ी कुछ बातें भी की हैं। वे शैली को अद्वितीय कहते हैं और इस अद्वितीयता को अपनी पहचान। यही बात अज्ञेय भी मानते हैं, मगर विजेन्द्र जी को अज्ञेय की अद्वितीयता रास नहीं आती! वे अज्ञेय को अपने से सर्वथा भिन्न छोर पर खड़े पाते हैं। वैसे विजेन्द्रजी काव्य-रचना के सन्दर्भ में सारी अच्छी बातें जोड़ देते हैं (यही काम नामवर सिंह भी करते हैं तो उन पर रूपवादी होने का आरोप लगाया जाता है!) मसलन, तप, साधना, बाल-सुलभ जिज्ञासा, तटस्थ संबद्धता (poet's detached involvement) कवि की निजता और स्थानीयता (nativity) समकालीनता, परिवेश और प्रकृति, मानवीय सम्बन्धों की विविधता, भावों, संवेगों की सघनता, स्वतःस्फूर्तता तथा अतिरिक्त बौद्धिकता पर अंकुश, उपयुक्त भाषा रचनाशीलता आदि। ये अच्छी-भली बातें अन्तर्विरोधपूर्ण भी हो सकती हैं। अधिक से अधिक आलोचक रचना में इनके सजगतापूर्वक इस्तेमाल की बात कर

सकता है किन्तु दिक्कत यह है कि रचना-प्रक्रिया की संश्लिष्टता में ऐसा सजगतापूर्वक इस्तेमाल हमेशा सम्भव नहीं होता।

विजेन्द्रजी का अभिविन्यास कह लें या प्रशिक्षण (orientation) वह हिंदी की साहित्यिक परम्परा के साथ-साथ संस्कृत (पुराण, काव्य, काव्यशास्त्र, निरुक्त, आयुर्वेद, न्यायशास्त्र) और अंग्रेजी साहित्य में भी हुआ है, इस बात के प्रमाण 'अन्तर्यात्रा' में जगह-जगह मिलते हैं। फिर भी वे कविता में इकहरेपन के खतरे की बात कम करते हैं और सूक्ष्म तथा जटिल जीवन-सन्दर्भों को भाववाद के खाते में डालते प्रतीत होते हैं। ''जब आभ्यन्तर में स्पष्टता है तो पारदर्शी शब्दों की रचना होती है''–ऐसा वे बताते हैं। अचरज नहीं कि मुक्तिबोध के बजाय रामविलास शर्मा उन्हें अपने विचारों के अधिक निकट महसूस होते हैं। न तो स्पष्टता काव्य का चरम मूल्य हो सकती है और न अस्पष्टता कविता के लिए दुर्गुण ही होती है। कविता में, सौन्दर्य, में, जो स्वाभाविक रहस्यमयता होती है, वह सर्वथा त्याज्य या उपेक्षीणीय नहीं होती। विजेन्द्र को रूप (from) से, क्योंकि रूपवाद से ही, चिढ़ है। उनकी धारणा है कि, ''रूप जितना ही अधिक मेरे ध्यान को अपनी तरफ खींचेगा वह उतना ही मुझे जीवन के यथार्थ से दूर ले जाएगा।'' प्रश्न उठता है कि क्या विजेन्द्र का यथार्थ रूप-रहित है? शमशेर का रूप उन्हें कथ्य से विचलित करता लगता है। नागार्जुन की तरह कथ्य को गेहूँ और रूप को भूसा मानने वालों की हिंदी में अब भी कमी नहीं है। क्या कोई कथ्य अ-रूप हो सकता है, या रूप शून्य में हो सकता है? कथ्य-रूप के इस कथित अलगाव और रूपवाद से नफरत के बल पर कितने ही लोग अपनी दुकान भी चला रहे हैं। विजेन्द्रजी शमशेर की आलोचना इसलिए करते हैं कि उन्हें वहाँ 'प्रगतिशीलता की कोख में कलावाद' पलता जान पड़ता है। जब विजेन्द्र यह कहते हैं कि ''कण को बिना जाने ब्रह्माण्ड को बूझने की बेचैनी एक गम्भीर चिन्तन को भटकाती है'' तो इस गहन दार्शनिक उक्ति को भूल जाते हैं कि 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' और एक कण को भी सम्पूर्णता में जानना सम्भव नहीं–अणु-परमाणु को बूझने में कितनी सदियाँ और जिन्दगियाँ खप गईं और खप रही हैं। विजेन्द्र घने अन्धकार में जीवन-सत्य नहीं पाते, वे सूर्योदय में ही सौन्दर्य देखते हैं। यह समझना कठिन नहीं कि उनकी निगाहों में काफ का और दास्तोयवस्की–जैसे लेखकों की रचनाओं का क्या मूल्य होगा? अपनी बेलाग राय बताने में विजेन्द्र बिल्कुल दो-टूक हैं। वे यह भी कहते चलते हैं कि ''अगर मुझे जीवन के वेग को पकड़ना है तो मै। तटस्थ दर्शक नहीं रह सकता।'' मगर इस 'वेग' और भागीदारी का रूप और प्रक्रिया स्पष्ट नहीं है। फिर समय जहाँ ठहरा हुआ है मसलन सुदूर ग्रामांचलों-वनांचलों में, मध्यकालीन अँधेरे में लिपटा, नितान्त वेगहीन, जड़ बना–जीवन को वहाँ भी है।

रचना में विजेन्द्रजी लुकाच के यथार्थ को देखना पसन्द करते हैं। लेकिन कला में यथार्थ का निर्माण सिर्फ 'प्रातिनिधिकता' शब्द या टाइप चरित्रों के सहारे होने से रचनाएँ सरलीकृत, एकरस और उबाऊ ही नहीं बनतीं, बल्कि यथार्थ भी एकायामी होने लगता है। यथार्थवाद की यह पुरानी लुकाचियन समझ कभी 'प्रकृतवाद' (naturalism) कहकर उन्नीसवीं सदी के यथार्थवाद के पीछे लट्ठ लेकर पड़ी थी। अब जाकर पता चला कि प्रकृतवाद जैसी कोई चीज नहीं होती (फिर भी हिंदी आलोचना में जब-तब इसके सहारे 'विधर्मी विचारों' पर प्रहार किया जाता है)। जोला के 'जर्मिनल' को आज कोई प्रकृतवादी नहीं कहता। सच तो यह है कि कोई कलाकार इतना परपीड़क हो ही नहीं सकता कि शोषण और तकलीफ के डिटेल्स सिर्फ मजे (रस?) लेने के लिए प्रस्तुत करे, क्योंकि हमें पता है कि रचना से गुजरते हुए पाठक खुद अपना पाठ तैयार करना चलता है (अर्थात् कहानी लेखक नहीं, पाठक लिखता है!)। विजेन्द्रजी एक जगह बड़ा लेखक उसे मानते दीखते हैं, जो आइडियोलाजी सिखा दे...अर्थात् रचना में विचार महत्त्वपूर्ण होते हैं। इस तर्क से तो उन्हें कामू, काफ्का, सार्त्र का भी पक्ष लेना चाहिए जिनकी रचनाओं से अस्तित्वादी आइडियोलाजी सीख सकते हैं! मगर नहीं, विजेन्द्रजी और कई तरह की बातें भी करते हैं। मसलन, ''कविता में शुद्ध विचार न तो होता है और न उसे होने की जरूरत है।...कवि को अपना स्टाइल विकसित करना चाहिए।...एक कद्दावर कवि समय की माँग को पूरा नहीं करता। यह काम व्यवसायियों का है।...क्या कविता में भी कभी भूमंडलीकरण की की समस्या रही है? हर लेखक का चेतना के स्तर पर विश्व दृष्टि (vision) होता है।''

विजेन्द्र का विचारकवाला पक्ष महत्त्वपूर्ण है, पर हैं वे प्रकृततः कवि। वे प्रकृति पर उतने ही प्रलुब्ध रहे हैं, जितनी कृति (जो जीव में घटित हो रहा है)पर....''मैं अपने बारे में ही/लिखूँगा/अपने समय के बारे में भी/लेकिन दोनों दिखेंगे/समुद्र और लहरें/जिन वस्तुओं ने/दिया है जन्म मेरे भावों को/मैं उनकी छवि को/कहूँगा जैसे कहता है शब्द अर्थ को/उसके हृदय में छिपी ध्वनि को।'' (पृष्ठ 114) विजेन्द्र लम्बे अर्से से कविता करते रहे हैं। फिर भी हिंदी समाज में अपनी स्थिति को लेकर बहुत आश्वस्त नहीं हैं...''मैं तो गेहूँ के खेत में बथुआ जैसा रहा।'' (कवि की यह उपमा दूसरे ढंग से सार्थक है कि आज बथुआ का साग खास हो गया है, ढूँढे नहीं मिलता, क्योंकि उसका स्वास्थ्य-सम्बन्धी महत्त्व जग-जाहिर हो चुका है।) यह निराला की शिकायत (ब्राह्मण समाज में ज्यों अछूत) के बरक्स कम तीखा लग सकता है (हालाँकि आज ब्राह्मण और अछूत के आपसी सन्दर्भ भी बदले हैं) क्योंकि विजेन्द्र जानते हैं कि ''प्रतिभा को सहज स्वीकारना विरल प्रतिभा का ही धर्म है। बहुत कम लोग हैं। जो कृति को सम्मान स्नेह और प्राथमिक दाय दे पाते हैं।'' यह सब विजेन्द्र पुस्तक के 'लोकार्पण के नाटक' के सन्दर्भ में सोचते हैं, जहाँ नन्द भारद्वाज भी विजेन्द्र के संकलन 'ऋतु का पहला फूल' पर बोलते हैं। ''मुझे लगा उन्हें मेरी कविताओं के सन्दर्भ भी याद नहीं हैं...संकलनों के नाम नाम भी नहीं। नन्द बाबू इस उम्र में भी आत्म मुग्धता से नहीं उबर पाए हैं।'' विजेन्द्र की चिन्ता पूरे साहित्यिक माहौल को लेकर है : ''...लोकार्पण हुआ। अच्छा तो लगा ही, लेकिन कविता पढ़ने में दिलचस्पी लोगों की नहीं है। यहाँ तक कि कवियों की भी दिलचस्पी धीरे-धीरे कम होती जा रही है। क्या खूब बात है–हमें सबसे कम चिन्ता रचना की ही रह गई है। प्राथमिकता में वह बहुत नीचे है।'' इस लोकार्पण में मोहन श्रोत्रिय (संयोजक) नन्द किशोर आचार्य (वक्ता) जैसे लोग भी थे पर विजेन्द्र जी को सचमुच की खुशी अपने पुराने छात्र

सुरेन्द्र सक्सेना के मिलने से हुई। विजेन्द्र का छद्महीन जीवन और सम्बन्धों में विश्वास बताता है कि उनका व्यक्तित्व कितना मानवीय है। अच्छे कवि की तो यह प्राथमिक शर्त है।

त्रिलोचन विजेन्द्र के मॉडल कवि रहे हैं। वे कवि हैं और मानते हैं ''कविता नैसर्गिक नियमों को बड़ी नम्रता से लाँघती है।... कविता अगर हमारे पूर्व निर्मित अभिजात सौन्दर्यबोध को तोड़ती है तो यह असरदार प्रयोजन है!'' (1994 में जयपुर में आयोजित 'पहल' सम्मान के लिए विजेन्द्र जी ने अरुण कमल, ऋतुराज, आलोकधन्वा, मंगलेश डबराल और विष्णु खरे के नामों की सूची में से ऋतुराज की संस्तुति की थी और उन्हें ऋतुराज के नाम की घोषणा से प्रसन्नता हुई थी।) इससे भी उनकी काव्य-रुचि का थोड़ा-बहुत पता चलना चाहिए।) त्रिलोचन की तरह विजेन्द्र ने ''...सॉनेट लिखने का सिलसिला जारी रखा। सबसे बड़ा लाभ हुआ काव्यानुशासन, वाक्यों का कसा हुआ रचाव, संरचनात्मक और भावनात्मक एकान्विति तथा रुचिकर रूप और वस्तुगत स्थापत्य का वैभव।''

हर कवि की तरह कवि विजेन्द्र की भी मुख्य चिन्ता स्वाभाविक रूप से अच्छी कविता रचने की रही है–''कैसे मुमकिन हो/कविता इस कदर सहज/जैसे माँ की लोरियाँ/इतनी सख्त/जैसे ग्रेनाइट चट्टानें/एक बड़े हृदय में/समुद्र के साथ/पृथ्वी भी/आलोकित हो।'' कवि की आइडियोलाजी जो भी हो, सामाजिक व्यवहारों में वह इतना अकेला है कि ''प्रकृति, पुस्तकें और जीवन के अनुभव ही अपने संगी-साथी हैं।'' अपने समय और जीवन के प्रति विजेन्द्र सच्चे रहना चाहते हैं, क्योंकि ''इतिहास की अर्थवान सत्ता को जब व्यर्थता से ढँका जाता है तो नचिकेतीय दृष्टि का जन्म होता है। नचिकेता व्यर्थ होती हुई जीवन-शैली का अर्थवान प्रतिवाद है। यह जरूरी नहीं कि हर नई पीढ़ी में यह ज्वलन्त दृष्टि उद्भासित हो। कतई जरूरी नहीं। आज जो नई पीढ़ी (अधिकांश) आ रही है वह अपने सार्थक अतीत को नहीं समझना चाहती। झूठी रचना विकृतियों को जन्म देती है जैसे झूठा जीवन!'' कवि ने अपनी रचना-प्रक्रिया की जहाँ-तहाँ बानगी भी दी है जो लगता नहीं कि अन्य कवियों से बहुत अलग या विशिष्ट हो। ''इतने दिनों तक नहीं लिख पाने के कारणों

में से एक कारण रहा मन का थिर ना होना। क्या यह कभी थिर होगा। ऐसा 'थिर' मैं भी नहीं चाहता कि यह होती हुई जिन्दा घटनाओं से मुँह मोड़ ले, यह नहीं। पर इतना सोचने-विचारने को मुनासिब वक्त मिले। हाँ इन दिनों कविताएँ नहीं रुकीं। दरअसल मेरे लिए कविता लिखने और डायरी लिखने के काम कुछ अलग-अलग से हैं। कविताएँ जब आती हैं तो कौंध के साथ।'' रचने से बढ़कर कलाकार के लिए रुचिकर बात और क्या होगी? ''रचना की छोटी सफलता भी मन को खुशी देती है। हृदय बड़ा होता है। यदि मैं रचना के सम्पर्क में हरदम रहूँ तो वह मुझे असर देगी। यह मेरे दिल की खलसत है। जैसे इन्सान के साथ रहूँ तो वह असर देता है। प्रकृति के बीच मुझे स्वयं को विसर्जित करने की प्रेरणा मिलती है।'' रचनाकार आलोचक से यही अपेक्षा रखता है कि वह कविता की आस्वादपरक व्याख्या करे, मगर इसी का अभाव उसे दुखी कर जाता है। कविता रचने से भिन्न काम होता है संकलन के लिए पांडुलिपि तैयार करना : ''इन दिनों पांडुलिपि बनाने में लगा रहा। दिन बहुत छोटे होते हैं। लगता है गौरैया फुर्र इधर फुर्र उधर।'' (22 नवम्बर 1994) फिर, ''पाण्डुलिपि भेजकर मुक्त हुआ। कुछ चित्र बनाए।'' (5 दिसम्बर 1994)

उचित ही है कवि का मन जीवन में, जगत में, रचना में, रमे और रमता रहे– अनुभव लेता-पचाता रहे, पकाता रहे। इससे कवि की दृष्टि सन्तुलित बनती है। ''मैं इसकी (प्रकृति की) विभूति और नृशंसता दोनों का अनुभव करता रहा हूँ। इसके नियम मनुष्य का हित-अहित नहीं देखते, हालाँकि बहुत-कुछ वहाँ ऐसा है जो मनुष्य के उपयोग का ही है। ...विपरीत परिस्थितियों के अन्तर्द्वन्द्व में उपजी सच्चाई ही जीवन है। इसी के समानान्तर मनुष्य ने अपने ऐश्वर्य का स्थापत्य रचा है।'' मगर इस ऐश्वर्य के अन्य काले पहलू भी हैं। हम कलाओं-चित्र मूर्ति, संगीत, नृत्य, फोटोग्राफी...का खुला व्यवसायीकरण होते देखते हैं। विजेन्द्र का मानना है कि ''. ..समकालीन कविता ही ऐसी विधा है जिसने व्यवसायीकरण का प्रतिरोध अपने बल पे किया है।'' अब इस बात में कितना दम है, कहना मुश्किल है। मगर सच तो यह है कि शमशेर, रघुवीर सहाय, केदारनाथ सिंह, विष्णु खरे–जैसे कवियों में विजेन्द्र या तो रूपवाद पाते हैं या भाव और भाषा का बनावटीपन– और उनकी कविताओं को लेकर अपनी नापसन्दगी खुलकर, बेहिचक, बिना लाग-लपेट के, जाहिर करते रहे हैं। विजेन्द्र के पसन्दीदा कवियों की सूची में ज्ञानेन्द्रपति निरन्तर बने रहे हैं और ''ज्ञानेन्द्रपति ने अपने प्रिय कवियों की सूची में मेरा (विजेन्द्र का) नाम बड़े सम्मान से रखा है।'' दोनों कवियों का दीर्घजीवी परस्पर सम्मान का भाव आज के साहित्यिक माहौल को देखते हुए विस्मित करने वाला लग सकता है, क्योंकि हिंदी साहित्य में उसी का अस्तित्व स्वीकारा जाता है जो 'बना' या 'बिगाड़' सके, उक्त दोनों कवि इस स्थिति में हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। हाँ, विजेन्द्र जरूर 'कृति ओर' जैसी कृशकाय, अनियमित पत्रिका घाटे में निकालते रहे और वहाँ भी युवा लेखकों को अगर कोई दिलचस्पी हो सकती है तो सिर्फ रचनाएँ छपाने की। फिर भी। 'कई ने ब्लैकमेल करना चाहा। मैं अन्दर ही अन्दर यह सब समझता रहा। जिन लोगों को साहित्य में प्रेरित किया है वे ही जड़ काटने में लगे।'' विजेन्द्र को ''बराबर लगता रहा है कि मेरे तत्काल बाद की पीढ़ी कुछ आलोचकों की प्रसन्नता के लिए मेरी उपेक्षा कर रही है...मुझे

उन आलोचकों से नफरत है जो इतने कायर और काइयाँ हैं। जो यह भी नहीं कह सकते कि विजेन्द्र जो कविता लिख रहे हैं वह कविता नहीं है।'' कवि विजेन्द्र भी आखिर मनुष्य ही हैं, अपनी स्थायी स्वीकृति चाहते हैं। उनके लिखने के पीछे एक भाव यह भी होगा ही कि लोग उन्हें कवि के रूप में स्वीकार करें। हिंदी में ऐसे कवियों की कमी नहीं जो अच्छी कविता करते हुए अच्छे समीक्षक का इन्तजार कर रहे हैं। विजेन्द्र भी प्रतीक्षारत हैं। और बताते हैं कि ''हिंदी का दुर्भाग्य है कि अच्छा समीक्षक अभी आँखों के आगे नहीं आया...।'' आज के समीक्षकों को वे बुजदिल, मौकापरस्त और लुढ़कने लोटे जैसे विशेषणों से नवाजते नहीं थकते। अपनी किताब की जगह किसी और की किताब के पुरस्कृत होने पर उन्हें स्वाभाविक मलाल होता है। वे पुरस्कार की छिछली राजनीति पर चोट करते हैं और इस सम्बन्ध में रामविलास शर्मा की साधना और त्याग को याद करते हैं।

समीक्षक ही क्यों, हिंदी में ढंग के प्रकाशक भी कहाँ मिलते हैं? हालत यह है कि, ''लेखक प्रकाशकों की खुशामद करते घूमते हैं। पैसे देकर छपाते हैं।...लेखक को दैन्य से बचना चाहिए।...मुझे हर पुस्तक के बाद नया प्रकाशक खोजना पड़ता है। अभी भी लगता है कि वह स्थिति नहीं आयी जो प्रकाशक से हम अपनी शर्तें मनवा सकें।'' जो प्रकाशक पहले 'कृति ओर' छापता था ''उस नाटाणी के व्यवहार को देखकर उसकी दुकान पर जाने की इच्छा नहीं होती।...पत्रिका के लिए सहना पड़ रहा है।'' और पत्रिका का छपना 'रचना, दुनिया और आदमी के लिए' जरूरी है। ''किसी दृष्टिवान पत्रिका का काम यह भी है कि वह विकल्प सुझाती रहे, हमें क्या करना है, कैसे साहित्य में नई बातें पैदा हों। हम कविता को कैसे समझें। उसे जीवन के पास कैसे लाएँ...छोटे पैमाने पर ही सही।''

पाठक को अक्सर लगता है कि हिंदी साहित्य के समकालीन माहौल को लेकर विजेन्द्रजी की धारणाएँ हिंदी साहित्य के रचनाकारों की औसत शिकायतों से कोई भिन्न नहीं हैं। भारत भवन, अशोक वाजपेयी और नामवर सिंह के बारे में जिस प्रकार से निषेधात्मक विचार रखे गए हैं और उनकी व्यंग्य-छवियाँ प्रस्तुत की गई हैं उनसे नहीं लगता कि

विजेन्द्रजी पूर्वाग्रह-मुक्त वस्तुनिष्ठ आलोचना कर रहे हों। फिर भी यह कड़वा सच है कि खेमोबाजी हिंदी साहित्य का बड़ा अहित कर रही है (पूरे भारतीय साहित्यिक परिदृश्य में ऐसा घृणास्पद माहौल सिर्फ हिंदी साहित्य का ही है) मगर जरा-मरा सन्तोष इस बात से पाया जा सकता है कि इस सबके बावजूद किसी मात्रा में अच्छा लेखन भी सम्भव होता रहा है। कमियों को, बुराइयों को कोसते रहने का ही बढ़िया लेखन मानने वाले लोग भी हिंदी में मिलते हैं। सब जानते हैं कि विजेन्द्रजी ऐसे नहीं हैं। पर जाने-अनजाने कभी-कभी विरोधाभासी विचार भी प्रकट कर बैठे हैं। एक जगह वे नोहर की चचाण धर्मशाला की, जहाँ हिंदी रचनाकार को ठहराया गया था, गन्दी और ऊब-भरे कष्ट की ठीक ही शिकायत करते हैं, लेकिन दूसरी जगह हिंदी रचनाकार को भारत भवन द्वारा अच्छी सुख-सुविधा मुहैया किए जाने पर भी आपत्ति करते हैं और इसे वे ''नाजायज सुविधाएँ देकर उन्हें (हिंदी लेखक के) गर्त में धकेलने की हरकत'' बताते हैं! डायरी बताती है कि विजेन्द्र जी भी कई तरह के साहित्यिक काम मन मार कर कर लेते हैं : ''फिलहाल काम बहुत हैं। ओम भारती की पाण्डुलिपि का ब्लर्व लिखना है। यह काम दिक्कत का है। मन में बहुत ज्यादा उत्साह नहीं होता। फिर रमाकान्त की पुस्तक की भूमिका लिखनी है। आत्मीय लोगों की भावनाओं का मैं अनादर भी नहीं कर पाता।...'' लेकिन अपनी दो-टूक राय भी विजेन्द्र सबके सामने बेहिचक रख सकते हैं। ज्ञानरंजन के बारे में उसकी 'लव-हेट वाली प्रतिक्रियाएँ' ऐसी ही हैं। आलोचना के बहाने हिंदी के साहित्यकार आमतौर पर दूसरे लेखकों के लेखन से भी ज्यादा उनके व्यक्तित्व के प्रति निषोधात्मक विचारों का खुला प्रचार करते नहीं थकते... और अक्सर अपना खुद का फटा ढँकने के लिए ही ऐसा करते हैं। अगर कोई रचनाकार एक उच्च पदस्थ अधिकारी है तो फिर 'अफसर कवि या कथाकार' कहकर एक ही शब्द से उसका काम तमाम कर दिया जाता है। अधिकांश साहित्यिक चर्चे और मन्तव्य अफवाहों द्वारा बनाए जाते हैं। अगर केदारनाथ सिंह या नामवर सिंह, अशोक वाजपेयी के साथ खाते-पीते पाए जाते हैं (इसमें कौन-सी असामान्य बात हो गई) तो हल्ला मचाया जाता है कि ये तथाकथित बड़े लेखक किस तरह अफसरों के पीछे घूमते हैं। विजेन्द्र भी मानो बिना सोचे-विचारे उक्त धारणा में अपनी राय मिलाते हुए कहते हैं–''मेरा मानना है कि इसका उत्तर दोनों (के.ना.सिंह और ना. सिंह) के लम्बे आचरण में छिपा हुआ है। दोनों ही परसाई के प्रशंसक हैं। दोनों ही डॉ. रामविलास शर्मा को महान कहते हैं, दोनों ही निराला को महाकवि मानते हैं–पर इन दोनों से आचरण की सभ्यता क्यों नहीं सीखते! ऐसे लोगों ने ही साहित्य में बड़े पैमाने पर दिग्भ्रम फैलाया है।'' क्या निराला, परसाई और रामविलास शर्मा 'सुपरमैन' थे और उनके आचरण में कोई अन्तर्विरोध नहीं थे? फिर कुछ लोगों के व्यक्तिगत जीवन को साहित्य के आचरण से नत्थी कर नकारात्मक विचार रखने वाले क्या साहित्य में सही दिशा बता रहे हैं? क्यों नहीं वे इन साहित्यकारों की रचनाओं का सार्थक विवेचन-विश्लेषण करने की जहमत उठाते। हाँ विजेन्द्र जी की इस बात में सच्चाई है कि ''ऐसे लोग मुझे बहुत मिले है। जो मन, मिजाज और कर्म से तो लेखक हैं नहीं पर

साहित्यिक संगठनों से जुड़कर किसी तरह लेखक बनने की उतावली में रहते हैं।'' विजेन्द्र जी का, डायरी में, जो व्यक्तित्व उभरता है वह कुछ ऐसा है कि वे किसी को बख्शते नहीं, किसी को तरह नहीं देते, फिर भी मनुष्यता के नाते आदर लगाव सबके प्रति रखते हैं। कहीं-कहीं विजेन्द्र की काव्य-संवेदना के सन्दर्भ में अन्तर्भेदी दृष्टि का अच्छा परिचय मिलता है। यह जगजाहिर है कि विजेन्द्र जी रघुवीर सहाय, विष्णु खरे, मंगलेश डबराल और विनोद कुमार शुक्ल की कविताओं को कोई खास महत्त्व नहीं देते। वे डायरी में (पृ. 224-25) विनोद कुमार शुक्ल की कविता 'जंगल के दिन दिन भर के सन्नाटे में' का बढ़िया विश्लेषण करते हुए साबित करते हैं कि कवि आदिवासियों के जीवन को मध्यवर्गीय मनोगत दृष्टि से देखता है। डायरी विजेन्द्र जी के जीवन और कविता में समान रूप से, रसखोजी कवि-रूप का प्रमाण प्रस्तुत करती है। उनका मन्तव्य है : ''हमारी समकालीन हिंदी कविता में एकरसता का बाहुल्य हो जाने के कारण सभी परेशान हैं। फिर यहाँ वैचारिकता और अस्वाभाविकता के खतरे पैदा हुए हैं। यान्त्रिकता बढ़ी है। परिणामतः स्वतःस्फूर्ति का अभाव कविता को हमसे दूर धकेल रहा है।'' विजेन्द्र जी ने अनेक जगह आलोचकों की काव्य-सम्बन्धी समझ पर भी टिप्पणियाँ की हैं। अनेक बार स्थिति का सरलीकरण भी करते हैं।

डायरी में व्यक्ति विजेन्द्र बहुत खुलकर नहीं आते (हालाँकि नामवर सिंह से उन्हें शिकायत रही है कि वे 'बातों में कभी खुलते नहीं'), मगर जहाँ और जितना भी विजेन्द्र का व्यक्तित्व आया है, ईमानदारी से आया लगता है। वे परेशानियों से क्रुद्ध और उत्तेजित तो होते हैं, पर दुनियादार नहीं बन पाते। फिर भी पस्तहिम्मत नहीं होते। एकाधिक बार पत्नी का, दो-चार बार बेटी रोचना और उसके पति लोकेन्द्र का और एक बार बहन का (''मेरी बहन ने राखी भेजी। दो बहिनों में एक ही है अब। पर मै। उसके पास नहीं जा पाता अब'') दो-एक जगह बेटे राहुल का जिक्र है। हर किसी व्यक्ति की तरह विजेन्द्र को समय व्यर्थ गँवाने पर कुढ़न होती है। वे बहुत सामाजिक नहीं हो पाते। समारोहों में कोफ्त और अकेलापन महसूस करते। क्रियाशीलता लुभाती है। काइयाँ लोगों से चिढ़ है और उनसे दूर रहने में ही भलाई समझते हैं। वैसे हर किसी में अन्तर्विरोध होते हैं–''जब तक जीवन है मैं अन्तर्विरोध में ही जीऊँगा। प्रयत्न जरूर करता हूँ कि उनसे उबर पाऊँ।'' कहा जा सकता है कि जीवन और कविता के बारे में विजेन्द्र बड़ी अन्तर्भेदी दृष्टि रखते हैं, फिर भी उनका आलोचकीय विवेक उन्हें इतना आत्म-सजग रखता हुआ-सा जान पड़ता है कि स्वाभाविक स्वतःस्फूर्तता पर अंकुश लग जाता है। डायरी में कुछेक जगह विजेन्द्र स्वयं को मध्यम तथा अन्य पुरुष की भाँति सम्बोधित करते हैं। ऐसे स्थलों पर अपनी आलोचना तो होती है पर प्रकारान्तर से दुनिया के बुरे होते जाने और खुद के वैसे नहीं बन सकने की वंचक किस्म की प्रसन्नता थी। दूसरी ओर अपनी सीमाओं का परिज्ञान और आत्म-स्वीकृति भी कि–''...मैंने जीवन को इस मोड़...इस ढलान...तक जिया पर मैं अभी अर्थ की महिमा नहीं समझ पाया।'' विश्व के गिने-चुने महापुरुषों को छोड़ दें तो कमोबेश यही स्थिति प्रायः सभी मनुष्यों की है। विजेन्द्र में प्रश्नाकुलता है और मार्क्सवादी जद से भीतर उत्तर तलाशने की जिद भी।

विजेन्द्र केदारनाथ अग्रवाल को अपने चित्त के करीब पाते हैं। नयों में ज्ञानेन्द्रिपति को। केदारनाथ अग्रवाल की तरह ही उनका अपना साहित्य भी किसानी के बिम्बों से अटा पड़ा है। कविता और कवियों के बारे में (आलोचकों के बारे में भी) विजेन्द्र की अपनी बनी-बनाई राय है। आज के दौर में बड़े महत्त्वपूर्ण माने जाने वाले अनेक कवि...रघुवीर सहाय, श्रीकान्त वर्मा, धूमिल, विनोद कुमार शुक्ल, विनोद भारद्वाज, विष्णु खरे...उनकी दृष्टि में मँझोले दर्जे के हैं। उम्र की ढलान पर आकर भी विजेन्द्र के भीतर का साहित्यकार पहले जितना ही बेचैन है। वे कविता से पेंटिंग में और वहाँ से गद्य में बराबर आवाजाही करते रहते हैं। वे बताते हैं–''मैं जनतन्त्र का नागरिक हूँ। जो कविता में नहीं कह पाता उसे गद्य में कहूँगा।'' और गद्य में वे अच्छा कह लेते हैं। उनका यह गद्य पारदर्शी है। 8 जून 1995 की डायरी में जेठ की तपती हुई दुपहरिया का यह खाका देते हैं–''जून की तपिश ने हाल बुरे किए हैं। सिर पर जैसे किसी ने अँगारा रख दिया हो। पाँव में जूते हैं, फिर भी जलते हैं। आदमी से बातचीत करते दहशत होती है। जाने क्या कह बैठे। क्या लहजा हो। किसी के चेहरे पर रौनक नहीं। बनावटी हँसी देखते-देखते आँखें दुखने लगी हैं। और खुद हँसते-हँसते चेहरे पर सिकुड़नें पड़ गई हैं। कहर में जी रहे हैं। बस खास बात जी रहे हैं।'' या फिर शरद ऋतु की आगमनी को बताते ये शब्द : ''ठण्ड अभी कँपाने वाली नहीं है। बस चन्दन के छींटे पड़े हों मेरे खुले माथे पर। आकाश अपनी जगह है। धरती उसमें अपने सोलह शृंगार निहारती है। अभी सीत्कार भी नहीं कि दाँत बजने लगें।'' और फरवरी-मार्च में–''गेहूँ की फसलें ऐंड़ रही हैं। दाना दुधिया गया है। धूप कपास सी खिली है। पूरे खेत पर हरी लहरियाँ दिख रही हैं।''

कोई साढ़े तीन सौ पृष्ठों की इस पुस्तक में विजेन्द्र के जीवन, संसार, कला, साहित्य, राजनीति, आयुर्वेद, हिंदी के समकालीन परिदृश्य, रचनाकारों की गढ़ी गई छवियाँ, मुखौटे और वास्तविक चेहरे आदि से सम्बन्धित विचार और प्रतिक्रियाएँ समाहित हैं। उनसे पाठकीय सहमति-असहमति की स्थितियाँ बनती चलती हैं मगर पुस्तक की केन्द्रीयता में कवि की सन्तुलित जीवन-दृष्टि ही उपस्थित है : ''ऋतुचक्र से लेकर पंचतत्वों तक...मैं इसके ('विराट, बीहड़, विचित्र जगत' के) वरदानों के बिना जी नहीं सकता। इसके अभिशाप से क्षरित होता रहता हूँ। इसकी आनन्दलीला में आनन्दविभोर होता रहा हूँ और विनाशलीला में क्लान्त और दुखी। इन दिनों विपरीत परिस्थितियों के अन्तर्द्वन्द्व से उपजी सच्चाई ही जीवन है। इसी के समानान्तर मनुष्य ने अपने ऐश्वर्य का स्थापत्य रचा है।''

निस्सन्देह, कवि विजेन्द्र की अन्तर्यात्रा का यह लेखा-जोखा हाल में वर्षों में प्रकाशित हिंदी की महत्त्वपूर्ण पुस्तकों में अपना विशिष्ट स्थान रखने वाली है।

कवि की अन्तर्यात्रा, विजेन्द्र, शिल्पायन, 10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-32
मूल्य : 350.00

38, क्लाइट लैण्ड्स, इन्दिरा नगर, गच्चीबावली, हैदराबाद-500032 (अ.प्र.),
फो. 040-23002229 मो. 09490925866

‘आलोचना’ के नामवर सिंह

भारत यायावर

स्वाधीनता के बाद राजकमल प्रकाशन हिंदी के एक प्रमुख पुस्तक-प्रकाशन-संस्थान के रूप में उभरा। राजकमल के तत्कालीन निदेशक ओमप्रकाश ने 1951 ई. में ‘आलोचना’ पत्रिका के प्रकाशन का निर्णय लिया और इसके सम्पादन का दायित्व उस समय के प्रखर आलोचक शिवदान सिंह चौहान को सौंपा। अक्टूबर 1951 में इसका पहला अंक प्रकाशित हुआ। यह त्रैमासिक पत्रिका थी और ‘हिंदी जगत के बौद्धिक आवेग को दिशा देने वाली पहलकदमी थी। यह पत्रिका हिंदी के उन लेखकों, चिन्तकों और आलोचकों का मंच बनी जो उस समय के सबसे उर्वर और व्याकुल मस्तिष्क थे। शिवदान जी ने अपने कुशल सम्पादन में आलोचना के छह अंक निकाले।’’[1] उस समय नामवर सिंह बनारस में रह रहे थे और आलोचना के पथ पर चलना शुरू कर चुके थे। अपने शुरूआत में ही उन्होंने हिंदी साहित्यकारों का ध्यान अपनी ओर आकर्षिक कर लिया था। यही कारण है कि शिवदान सिंह चौहान के सम्पादन में ‘आलोचना’ का जो इतिहास अंक निकला, उसकी अधिकांश सामग्री नामवर सिंह की जुटाई हुई थी और वे इस अंक के सह-संपादक थे। यह अंक अक्टूबर, 1951 ई. में प्रकाशित हुआ था। इसी में नामवर सिंह का ‘इतिहास का नया दृष्टिकोण’ शीर्षक निबन्ध अग्रलेख के रूप में प्रकाशित हुआ था, जो ‘इतिहास और आलोचना’ पुस्तक में संकलित है। इस सन्दर्भ में ‘रचना और आलोचना के पथ पर’ शीर्षक आत्मकथा में वे लिखते हैं–‘‘चौहान जी के सम्पादन का पाँचवाँ और अन्तिम अंक ‘इतिहास विशेषांक’ निकला था। उस अंक की योजना बनाने में, ब्यौरेवार रूपरेखा तैयार करने में, उसके लिए सामग्री संकलन करने में मैंने काफी श्रम किया था। यही नहीं, उसका पहला लेख ‘इतिहास का नया दृष्टिकोण’ मैंने लिखा था। अन्य लेखों के अलावा गुरुदेव हजारी प्रसाद द्विवेदी की बिहार राष्ट्रभाषा परिषद से शीघ्र प्रकाशित होने वाली पुस्तक ‘हिंदी साहित्य का आदिकाल’ पुस्तक के प्रूफ से कुछ अंश चुनकर मैं बनारस से दिल्ली लाया था ‘आलोचना’ के उक्त अंक के लिए। इन सारी चीजों को देखते हुए चौहान जी ने सह-संपादक के रूप में ‘इतिहास विशेषांक’ में मेरा नाम दिया था।’’[2]

शिवदान सिंह चौहान ने ‘आलोचना’ के प्रारम्भिक छह अंकों का सम्पादन किया, जिसमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पाँचवाँ अंक ही था, जो ‘इतिहास-विशेषांक’ के रूप में प्रकाशित हुआ था। उसी समय अर्थात् जनवरी, 1953 ई. में राजकमल प्रकाशन की एक शाखा इलाहाबाद के सिविल लाइन्स में स्थापित हुई। इसी शाखा में बहुत बाद में लोकभारती प्रकाशन स्थापित हुआ। ओमप्रकाश जी उस समय ज्यादातर इलाहाबाद में ही रहते थे। उन्होंने ‘आलोचना’ से चौहान जी को हटाकर इलाहाबाद के चार लेखकों को इसके सम्पादन का भार सौप दिया। ये लेखक थे–डॉ. धर्मवीर भारती, रघुवंश, विजयदेव नारायण साही और ब्रजेश्वर वर्मा। इस संपादक-मण्डल ने अप्रैल, 1953 ई. से अप्रैल, 1956 ई. तक अर्थात् अंक-7 से अंक 17 तक इसका सम्पादन किया। ‘भारती और साही ने इसे शीतयुद्ध की विचारधारा को वहन करने वाला पत्र या मंच बनाया। मार्क्सवादी समीक्षा की कम्युनिस्ट परिणति से चिन्तित इन संपादकों ने ‘आलोचना’ को उस विचारधारा का प्रतिनिधि बनाया जिसे कृत्रिम, गूढ़, पश्चिमोन्मुख आधुनिकता या आधुनिकतावाद कहेंगे। नामवर सिंह की आरम्भिक पुस्तक ‘इतिहास और आलोचना’ की टिप्पणियाँ उसी समय की ‘आलोचना’ की संपादकीय दृष्टि या विचारधारा से संघर्ष का परिणाम है।’’[3]

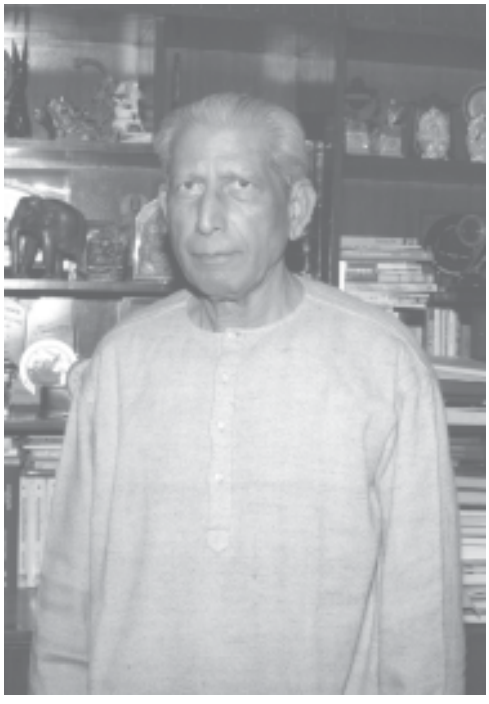

जुलाई, 1957 ई. से अर्थात् अंक-18 से अप्रैल, 1959 ई. अर्थात् अंक-28 तक आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी इसके संपादक रहे। उस वक्त वाजपेयी जी सागर विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग के अध्यक्ष थे और नामवर सिंह वहीं सहायक प्राध्यापक। ओमप्रकाश जी ने वाजपेयी जी को ‘आलोचना’ से हटाकर नामवर सिंह को उसके सम्पादन करने का आग्रह किया, किन्तु इसे उन्होंने अस्वीकार कर दिया। इसके कारण को स्पष्ट करते हुए नामवर सिंह ने लिखा है–‘‘यह 1959 की घटना है। जब नन्ददुलारे वाजपेयी के हाथों

'आलोचना' बन्द हुई, उस समय मैं सागर में था। ओमप्रकाश जी ने मुझसे कहा था कि 'आलोचना' का सम्पादन आप करिए। मैंने स्वीकार नहीं किया था, क्योंकि एक तो सागर से यह सम्भव नहीं था, दूसरा यह कि वाजपेयी जी हमारे हिंदी विभाग के अध्यक्ष थे और मैं असिस्टेंट प्रोफेसर था। जिस पत्रिका से उनको अलग कर दिया गया हो उसी पत्रिका का सम्पादन उनके अधीन काम करने वाला एक अध्यापक करे, ऐसा अध्यापक जो उनकी इच्छा के विरुद्ध नियुक्त किया गया हो, यह स्थिति दोनों में से किसी के लिए सुखद नहीं थी। अतः बहुत सोच-विचारकर मैंने प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया था।''[4] और जुलाई, 1959 से जून, 1963 तक 'आलोचना' का प्रकाशन स्थगित रहा। जुलाई, 1963 से दिसम्बर 66 तक 'आलेाचना' का पुनः शिवदान सिंह चौहान ने सम्पादन किया। उन्होंने अंक 29 से 33 तक इसके पाँच अंक सम्पादित किए। ये पाँचों अंक 'स्वातन्त्र्योत्तर हिंदी साहित्य' पर केन्द्रित विशेषांक थे। 1965 ई. में राजकमल प्रकाशन का प्रबन्धन ओमप्रकाश के हाथों से निकलकर शीला सन्धू के हाथ में आ गया, जिन्होंने नामवर सिंह को राजकमल का सलाहकार बना दिया था। नामवर सिंह उस उक्त 'जनयुग' साप्ताहिक का सम्पादन कर रहे थे। शीला सन्धू ने 1967 ई. में 'आलोचना' में संपादक का दायित्व इन्हें सौंपा और सलाहकार पद से हटा दिया। उस समय नामवर सिंह दिल्ली में मॉडल टाउन में रह रहे थे। 12 जून, 1967 ई. को उन्होंने अपने अनुज काशीनाथ सिंह को एक पत्र में लिखा– ''मैं अब राजकमल का साहित्य सलाहकार नहीं हूँ। मुझे 300 रुपये महीने मिलेंगे। 200 रुपये प्रतिमास दो पाण्डुलिपियों की प्रेस कॉपी तैयार करने के अतिरिक्त मिलेंगे। इस प्रकार इन 500 रुपये में मुझे किसी तरह दिल्ली में गुजर करना है। फिलहाल किसी और काम की तलाश में नहीं हूँ। आर्थिक दृष्टि से यह सौदा निस्सन्देह सुखद नहीं है, किन्तु मानसिक दृष्टि से लाभदायक है। मैंने सोच-समझकर ही यह निर्णय लिया है। अब अपने लिखने-पढ़ने के लिए पूरा समय रहेगा।''[5]

'आलोचना' का सम्पादन नामवर सिंह के लिए बेहद उत्साह भरा था, बेशक आर्थिक दिक्कतें थीं, दिल्ली में रहने की अनेक परेशानियाँ थीं। पर लिखने-पढ़ने का एक माहौल भी था। वे 'आलोचना' का सम्पादन प्रारम्भ कर चुके थे। और 'कविता के नए प्रतिमान' के लेखन का काम भी चल रहा था। चूँकि 'आलोचना' एक त्रैमासिक पत्रिका थी, इसलिए उसके सम्पादन में ज्यादा दबाव भी नहीं था।

नामवर सिंह ने 'आलोचना' को एक नया स्वरूप दिया। वे लिखते हैं–

'आलोचना' को पहले अंक से ही मैंने नया स्वरूप देने की कोशिश की, क्योंकि पहले उसका इतिहास एक साहित्यिक पत्रिका का था। जब चौहान जी निकालते थे, तब भी वह साहित्यिक ही थी। वाजपेयी जी ने उसको विश्वविद्यालय की पत्रिका बना दिया था। चौहान जी ने भी हिंदी साहित्य पर केन्द्रित हो अंक निकाले, उन्हें देखें, उनमें ज्यादातर लेखक अध्यापक थे।''[6] अर्थात् पहले की 'आलोचना' के स्वरूप को वे स्वीकार नहीं कर रहे थे और इसीलिए नए कलेवर में उन्होंने जो 'आलोचना' का पहला अंक सम्पादित किया, उसे उन्होंने नवांक-1 कहा। अप्रैल, 1967 ई. में यह पहला अंक निकला और अन्तिम अंक 1990 में। कुल 93 अंकों का सम्पादन उन्होंने किया और राजकमल के द्वारा उसे अचानक बन्द कर दिया गया। 1994 ई. में राजकमल के प्रबन्ध-निदेशक के रूप में अशोक महेश्वरी आ गए और फिर एक नए स्वरूप में 2000 ई. से 'आलोचना' का सहस्राब्दी अंक निकलना शुरू हुआ।

जब अप्रैल, 1967 ई. में नामवर सिंह ने 'आलोचना' का पहला अंक निकाला, उस समय को याद करते हुए वे बताते हैं–''सन् 67 में अप्रैल का अंक जून में आया था। उस समय चौथा आम चुनाव हो चुका था और चौथे आम चुनाव का विशेष महत्त्व इस प्रकार से है कि पहली बार प्रदेश में गैर कांग्रेसी संविद सरकारें बनी थीं। इस प्रकार काँग्रेस के वर्चस्व को चुनौती मिली थी। दूसरी खास बात है कि 1967 के समय को याद करें कि एक ओर नक्सल आन्दोलन प्रारम्भ हुआ था, कम्युनिस्ट पार्टी के दो टुकड़े पहले ही हो चुके थे 64 में। एक संक्रमणकाल का दौर था। यह भी उल्लेखनीय है कि प्रदेश में जो मिली-जुली सरकारें बनी थीं–उत्तर प्रदेश में, बिहार में, उसमें कम्युनिस्ट और जनसंघ दोनों ही पार्टियाँ

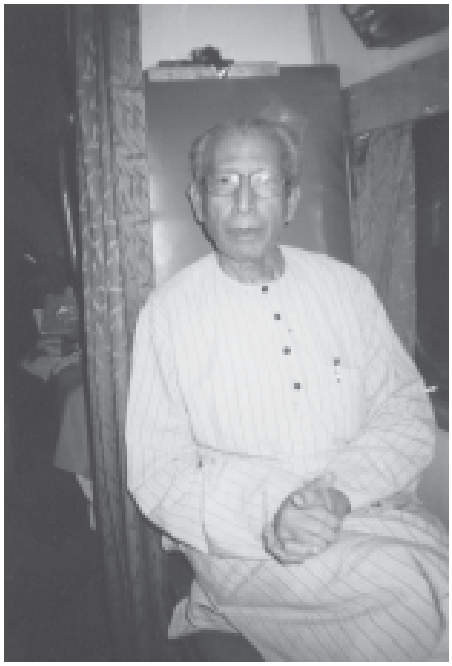

शामिल थीं। मैंने योजना बनाई कि 'आलोचना' के हर अंक में एक संवाद रहे। ज्वलंत समस्याओं पर, विभिन्न लोगों के विचार होंगे क्योंकि मैं मानता हूँ कि आलोचना का क्षेत्र विशुद्ध साहित्यिक नहीं है, अधिक व्यापक है। मुक्तिबोध इसी को 'सभ्यता समीक्षा' कहते है। उन दिनों डॉ. रामविलास शर्मा अक्सर दिल्ली आते थे। दो-एक बार हमारे यहाँ भी ठहरे। मैंने उनसे अनुरोध किया कि वह 'चौथे आम चुनाव के बाद का भारत' विषय पर लेख लिखें। उन्होंने जो लेख लिखा, उसे मैंने कई लोगों के पास भेजा। प्रतिक्रिया तो लोग क्या देते, पर मैंने उसे आधार निबन्ध के रूप में छापा। इस लेख का शीर्षक 'फासिस्ट खतरा और वामपंथ' था। इसमें उन्होंने कहा था कि अगर कभी फासिस्ट तानाशाही आएगी तो इसकी जिम्मेदारी वामपंथ पर होगी।''[7] पहले अंक में उन्होंने धूमिल की सुप्रसिद्ध कविता 'बीस वर्ष बाद' एवं केदारनाथ सिंह की कविता 'चुनाव की पूर्व सन्ध्या पर' प्रकाशित की थी। साथ ही चेकोस्लोवाकिया से निर्मल वर्मा का लेख मँगवाकर छापा कि वहाँ के बुद्धिजीवी क्या सोचते हैं? 'चुनाव के बाद का भारत' संवाद की प्रस्तावना में उन्होंने लिखा– ''स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद पहली बार हमारे राजनीतिक जीवन में परिवर्तन का आभास हुआ है और लोग सोचने लगे हैं कि परिवर्तन सम्भव है। जो स्थिति एक अपरिवर्तनीय नियति प्रतीत हो रही थी वह अब अपने सामर्थ्य के

अधीन अनुभव हो रही है और इस प्रकार बीस वर्षों के बाद रूढ़ असन्तोष को एक दिशा मिली है। राजकीय सत्ता के ढाँचे में एकाधिकार के टूटने से पहली बार स्पष्ट विकल्प दृष्टिगोचर हुए हैं और जनतन्त्र की सम्भावनाएँ उद्घाटित हुई हैं। किन्तु चुनाव के बाद घटनाएँ जिस तिर्यक गति से घटित हो रही हैं, उससे स्पष्ट है कि यह केवल भाव-विभोर होने का समय नहीं है, बल्कि अनेक जटिल प्रश्नों से संकुल संक्रमण की ऐतिहासिक घड़ी है जिसके लिए कहीं अधिक बौद्धिक सतर्कता की अपेक्षा है।''[8]

'आलोचना' का दूसरा अंक (जुलाई-सितम्बर, 1967) उन्होंने हजारी प्रसाद द्विवेदी पर एकाग्र किया। इसमें उन्होंने 'आलोचना की भाषा' पर परिसंवाद प्रकाशित किया और स्वयं इस विषय पर एक निबन्ध लिखा, जो उनकी पुस्तक 'वाद-विवाद-संवाद' में संकलित है। उनका मानना था कि जिस भाषा में हम सोचते हैं या लिखते हैं, वह भाषा हमारे विचार, अन्तर्वस्तु और जीवन की वास्तविकता को निर्धारित करती है। यह रचनाकार के लिए जितना सत्य है, आलोचक के लिए भी उतना ही। आलोचना की भाषा का अर्थ यह नहीं है कि भाषा कठिन हो या सरल, बल्कि आलोचना की भाषा से अभिप्राय आलोचना की अवधारणाएँ हैं। वे इस अंक के औचित्य पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं–''द्विवेदीजी के माध्यम से मैं कई चीजें प्रस्तुत करना चाहता था। एक तो यह कि वह परम्परा और आधुनिकता के अद्भुत संगम थे। मैं यह संकेत देना चाहता था कि हिंदी में आलोचना का नाम लेते ही लोग आचार्य रामचन्द्र शुक्ल या नन्ददुलारे वाजपेयी को ही याद करते थे, जबकि आलोचना उससे आगे भी है। दूसरे उन दिनों डॉ. नगेन्द्र की तूती बोल रही थी। अतः मैं बताना चाह रहा था कि प्राध्यापकीय या शास्त्रीय आलोचना सच्ची आलोचना नहीं है। श्रेष्ठ आलोचना की चिन्ता साहित्य से अधिक संस्कृति की होती है और उसके सामाजिक सरोकार होते हैं। आलोचना का एक मुख्य उद्देश्य यह भी है, जैसा कि इलियट ने कहा है कि हर आलोचक इतिहास का या अपनी परम्परा की पुनः व्याख्या करता है। यों कहें कि आलोचना का एक कैनन होता है यानी कि आपकी दृष्टि में जो सबसे महत्त्वपूर्ण है–सार्थक है–वह क्या है? आपकी सूची क्या है? आपकी सूची में कौन लोग हैं? आलोचक का दायित्व है साहित्य में प्रचलित कैनन पर विचार करना और जरूरत हो तो उस कैनन को बदल देना।''[9]

'आलोचना' का नामवर सिंह के सम्पादन में निकला चौथा अंक अर्थात् जनवरी-मार्च, 1968 का चौथा अंक 'युवा लेखन' पर निकला। इसमें धूमिल की लम्बी कविता 'पटकथा' भी प्रकाशित हुई। परिसंवाद का विषय रखा गया–'युवा-लेखन पर एक बहस'। इसी विषय पर नामवर सिंह ने लेख लिखा। जो 'वाद-विवाद-संवाद' में संकलित है। इस अंक को बाद में ऐतिहासिक महत्त्व का माना गया। 'आलोचना' जुलाई-सितम्बर, 1968 का अंक मुक्तिबोध पर केन्द्रित किया गया और इसमें परिसंवाद का विषय था–'कविता और राजनीति'। इस विषय पर नामवर सिंह विचार करते हुए लिखते हैं–''एक अर्थ में सभी कविताएँ राजनीतिक होती हैं–वे भी जिनमें कवि अपने राजनीतिक सन्दर्भ में प्रति सचेत नहीं होता। इस रुख की द्वन्द्वात्मकता को बर्टोल्ट ब्रेष्ट ने इन पंक्तियों में व्यक्त कर दिया है–

यह कैसा मानना है
कि पेड़ों के बारे में बातचीत भी लगभग जुर्म है।

क्योंकि इसमें बहुत सारे कुकर्मों के बारे में चुप्पी शामिल है।

जब एक चुप्पी भी सन्दर्भ के द्वारा अर्थ पा जाती है तो फिर किसी भी कविता का राजनीतिक अर्थ प्राप्त कर लेना स्वयंसिद्ध है। जागरूक कवि अपने कवि-कर्म के दौरान सतर्कता के साथ राजनीतिक सन्दर्भ को परिभाषित करते चलते हैं और इस प्रकार सीधे-सीधे राजनीतिक विषयों पर कविता न लिखते हुए भी अपनी प्रत्येक रचना को एक निश्चित राजनीतिक अर्थ देते हैं। महत्त्वपूर्ण है राजनीतिक सन्दर्भ का गहरा और यथार्थ बोध।''[10]

यह वह दौर था, जब पुराने एवं नए कवि बहुतायत में राजनीतिक कविताएँ लिख रहे थे। ज्यादातर मुखर भाषा में। उस समय नामवर सिंह ने ब्रेष्ट को याद करते हुए हिंदी कवियों में मुक्तिबोध को अपने मानक पर प्रासंगिक करार दिया, जिनमें ईमानदारी, समझदारी और जिम्मेदारी सबसे अधिक थी। मुक्तिबोध की कविताएँ अपने समय के अन्य कवियों से कम मुखर, पर ज्यादा गहरे अर्थ में राजनीतिक थीं। यद्यपि वे अन्य कवियों से हटकर 'चीखती कविता' बनाने में लजाते थे।

अक्टूबर-दिसम्बर, 1969 की 'आलोचना' में 'विश्वविद्यालय और साहित्य-शिक्षा' पर संवाद आयोजित कर उसके अग्रलेख में नामवर सिंह ने विश्वविद्यालयों में हिंदी साहित्य के अध्ययन-अध्यापन की सीमाओं पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि आजाद भारत के नए शासक वर्ग ने विद्यानुराग के कारण नहीं बल्कि अपने वर्गीय हितों की रक्षा और विस्तार के लिए विश्वविद्यालयों का निर्माण और विकास किया है। इसीलिए सरकार ने उस पर पूरा नियन्त्रण रखा है। इसी के तहत विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का गठन किया गया। इन विश्वविद्यालयों में पवित्र विद्या अपवित्र हो गई है, गुरु-शिष्य सम्बन्धों में 'नगद नारायण' कैसे आ गया है, शिक्षकों का कैसे व्यावसायीकरण हो गया है और विषय को किस तरह प्रश्न-पत्रों के रूप में स्थापित कर दिया गया है, इसकी पड़ताल करने के बाद वे हिंदी साहित्य की दशा पर विचार करते हुए कहते हैं–''यदि आज सभी विश्वविद्यालयों के तन्त्र में नौकरशाही, शिक्षा-पद्धति में यान्त्रिकता, छात्र-छात्र तथा छात्र-शिक्षक सम्बन्ध में नितांत निर्वैयक्तिता आदि प्रवृत्तियों का बोलबाला दिखलाई पड़ता है तो यह दैव का कोई अबूझ अभिशाप नहीं, बल्कि पूँजीवादी समाज-व्यवस्था का सामान्य नियम है जो कल-कारखानों से लेकर बाबुओं के दफ्तरों से होता हुआ शिक्षा-संस्थानों तक अबाध फैल रहा है। विभागीकरण भी इसी तन्त्र की कार्य-कुशलता का एक नुस्खा है जिसके कारण सरकारी दफ्तर ही विभागों में नहीं बँटे, बल्कि विश्वविद्यालयी ज्ञान भी अलग-अलग विभागों के रूप में विभक्त हो गया, यहाँ तक कि हर विभाग दूसरे को अपना शत्रु समझता है। ऐसे अलगाव के वातावरण में यदि साहित्य भी अपने-आपसे अलग हो जाए तो कोई आश्चर्य नहीं। जब साहित्य स्वयं प्रश्न-पत्रों में विभक्त होगा तो जाहिर है कि प्रश्न-पत्र ही पढ़ाए जाएँगे,

साहित्य नहीं। इसीलिए कहते हैं कि विश्वविद्यालय में आकर साहित्य, साहित्य न रहकर, एक विश्वविद्यालयी विषय बन गया और अन्य विद्याओं से अलग होकर एक विभाग भर रह गया। दूसरों से अलगाव की अनिवार्य परिणति है अपने-आप से अलगाव–अपने धर्म से अलगाव। इसलिए शिक्षा की दुनिया में साहित्य का स्वधर्म से अपसरण कुछ शिक्षकों की अयोग्यता का परिणाम नहीं बल्कि विश्वविद्यालयी तन्त्र में पूँजीवाद के प्रवेश की देन है। पुराणों की भाषा में कहते तो यह एक राक्षस-राज है जिसमें आग जलना छोड़ देती है, हवा बहना छोड़ देती है, पानी शीतलता छोड़ देता है अर्थात् प्रत्येक वस्तु अपना धर्म छोड़ देती है। जब लोग पाठ्यक्रम में नए साहित्य के न होने की शिकायत करते हैं तो भूल जाते हैं कि पुराना साहित्य वहाँ होकर भी नहीं है। और विकास की जो गति है उसमें जल्द ही वह दिन आने वाला है जब पुराना साहित्य सचमुच न रहेगा–न पढ़ने वाले मिलेंगे और न शायद पढ़ाने वाले। इस तरह अपनी परम्परा से एकदम कट जाना भी अलगाव का ही एक रूप है।''[11]

विश्वविद्यालयों में पढ़ाई जाने वाली हिंदी के पाठ्यक्रम में बदलाव लाने के लिए उन्होंने कई काम किए, जिनमें सबसे महत्त्वपूर्ण था–'साहित्य के समाजशास्त्र' विषय को स्थापित करना। इसके लिए उन्होंने 'आलोचना' के संपादक के रूप में भी काम किया। 'आलोचना' के अठारहवें अंक को उन्होंने हंगरी के आलोचक जॉर्ज लुकाच पर केन्द्रित किया। उसी समय लुकाच की मृत्यु हुई थी। इसमें अन्य सामग्री के साथ लुकाच के एक प्रसिद्ध निबन्ध का अनुवाद 'कला और वस्तुपरक सत्य' प्रकाशित किया। अपने संपादकीय निबन्ध में उन्होंने लुकाच के साहित्यिक अवदान पर विस्तार से विचार किया। इस निबन्ध का समापन करते हुए उन्होंने कहा–''आज लूकाच के आलोचना-सिद्धान्त भले ही अग्राह्य प्रतीत हों परन्तु उनकी अन्तर्दृष्टि का युग-युगान्तर-व्यापी प्रसार आज भी स्पृहणीय है। उनमें साहित्यिक कृतियों को परखने के लिए विराट अवधारणाओं के निर्माण की ऐसी क्षमता थी जो अन्यत्र दुर्लभ है। 'समग्रता' और 'वस्तुनिष्ठता' के प्रति लूकाच का जो आग्रह था वह आज भी प्रेरणादायक है। लूकाच के व्यक्तित्व और कृतित्व से स्पष्ट है कि एक अपूर्ण एवं सदोष मार्क्सवाद भी गैर-मार्क्सवादियों से कहीं अधिक महान हो सकता है।''[12]

'आलोचना' का उन्नीसवाँ अंक पाब्लो नेरूदा पर केन्द्रित किया गया और हिंदी में पहली बार नेरूदा पर नामवर सिंह के द्वारा लिखा गया। क्यों? क्योंकि ''नेरूदा का काव्य वस्तुतः पश्चिम की आधुनिक काव्यधारा के लिए वज्राघात है। जिनके लिए आधुनिक कविता फ्रांसीसी प्रतीकवादियों से चलकर इलियट-पाउण्ड में निःशेष हो जाती है। पाब्लो का काव्य-संसार उनके सम्मुख एक नए आधुनिक विश्व का उद्घाटन करता है।''[13]

गोल्डमान के निधन पर 'आलोचना' का बीसवाँ अंक केन्द्रित किया गया। नामवर सिंह के अनुसार, ''गोल्डमान की आस्था सामान्यतः समाजवाद और मानववाद में है, किन्तु उनकी दृष्टि नव-पूँजीवाद के भ्रमों से इतनी मुक्त नहीं है कि उन्हें मार्क्सवादी माना जाए।...गोल्डमान ने लूकाच की समग्रता की अवधारणा को साहित्यिक समाजशास्त्र के क्षेत्र में 'संरचना' के रूप में लागू किया।...गोल्डमान लूकाच से इस बात में भिन्न हैं कि वे समकालीन 'अवांगार्द' साहित्य को अनिवार्यतः पतनशील और नैतिक दिवालिया नहीं मानते।''[14]

इसी क्रम में 'आलोचना' के 31वें अंक में रेमंड विलियम के निबन्ध को प्रकाशित किया गया एवं रेमंड विलियम के अवदान के महत्त्व को रेखांकित करते हुए इसका संपादकीय लिखा गया।

इस तरह नामवर सिंह ने विश्व के अनेक आलोचकों एवं कवियों से पहली-पहली बार 'आलोचना' के द्वारा हिंदी के साहित्यिकों को परिचित कराया। साहित्य के समाजशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र, शैली विज्ञान आदि आलोचना के रूपों से परिचित कराने वाले निबन्धों के अलावा हिंदी में पहली बार विखण्डनवाद या उच्छेदवाद तथा उत्तर-आधुनिकता पर भी लेख प्रकाशित किए गए। ग्राम्शी, रेमंड विलियम, गोल्डमान, वाल्टर बेंजामिन, लुकाच, ब्रष्ट आदि पर तो विस्तार से सामग्री दी गई।

हिंदी के अनेक साहित्यकारों पर भी 'आलोचना' के विशेषांक प्रकाशित किए गए। प्रारम्भ में हजारी प्रसाद द्विवेदी एवं मुक्तिबोध पर केन्द्रित अंक निकले। 1975 ई. में 'धूमिल' का असामयिक निधन हो गया। अप्रैल-जून 1975 का अंक 'धूमिल' पर केन्द्रित किया गया। यह तैंतीसवाँ अंक था। यह ध्यातव्य है कि धूमिल की कविताएँ इसके पूर्व 'आलोचना' में लगातार प्रकाशित हो रही थीं और इसके द्वारा ही उनकी चर्चा प्रारम्भ हुई। इसी क्रम में आगे नागार्जुन, त्रिलोचन, केदार, रामविलास शर्मा आदि पर अंक निकले। पूर्ववर्ती लेखकों में रामचन्द्र शुक्ल, भारतेन्दु, मैथिलीशरण गुप्त, प्रेमचन्द आदि पर अंक निकले।

1974 ई. में बांदा में प्रगतिशील लेखकों का एक बड़ा आयोजन हुआ। इस आयोजन में कई सवाल उभरे। अप्रैल-जून, 1974 की 'आलोचना' को प्रगतिशील आन्दोलन और

विचारधारा के मूल्यांकन पर केन्द्रित किया गया। इसके संपादकीय आलेख–'प्रगतिशील साहित्य-धारा में अन्ध लोकवादी रुझान' में उन्होंने वामपंथी लेखकों की सतही साहित्यिक समझ की तीखी आलोचना की। इस निबन्ध पर बाद में बेहद वाद-विवाद हुए। अक्टूबर-दिसम्बर, 1982 की 'आलोचना' रामविलास शर्मा की सत्तरवीं जयंती (10 अक्टूबर) पर प्रकाशित की गई और संपादकीय उन्होंने 'केवल जलती मशाल' शीर्षक से लिखा। इसमें भी वे किसिम-किसिम के वामपंथी साहित्यकारों पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं– ''आज हिंदी में 'क्रान्तिकारी' मार्क्सवादियों की कमी नहीं है। सभी रणबांकुरे हैं, योद्धा का बाना बाँधे। और कमी भले हो, वाणी में न वीरता कम है, न क्रोध। लगता है क्रान्ति होने ही वाली है और होगी तो उन्हीं के नेतृत्व में। उधर जनता असंगठित है, वामपंथी दल एक-दूसरे को तोड़ने की कोशिश में स्वयं अप्रासंगिक होने लगे हैं, अवसरवादी संसदीय राजनीति का बोलबाला है, व्यवस्था का ढाँचा अपने ही पापों के भार से चरमरा उठा है, फासिस्ट शक्तियाँ जहाँ-तहाँ फिर से सिर उठाने का मौका पा गई हैं, परमाणु युद्ध की काली छाया अब झुकी कि तब झुकी, अप्रतिबद्ध बुद्धिजीवी कभी अपनी गुहा की ओर झाँकते हैं, कभी पश्चिम की ओर– हमेशा की तरह, ये सभी मिलकर अन्धकार को और गाढ़ा कर रहे हैं।''[15]

लेकिन 1986 में आकर रामविलास शर्मा ने 'प्रगतिशील' शब्द को छोड़ देने का प्रस्ताव अपनी पुस्तक 'मार्क्सवाद और प्रगतिशील' में किया। 1986 ई. में प्रगतिशील लेखक संघ की स्वर्ण जयंती के अवसर पर 'आलोचना' का विशेषांक प्रकाशित हुआ। यह अंक उस व्यापक साहित्यिक-सांस्कृतिक आन्दोलन का इतिहास, उसकी भूमिका, उसके अन्तर्विरोध, उसमें उठे वाद-विवाद, उसकी शक्ति और सार्थकता एवं उसकी सीमाओं को स्पष्ट करने के लिए प्रकाशित हुआ। इसमें रामविलास शर्मा की भूमिका की भी पड़ताल की गई। इसी अंक में नामवर सिंह की रामविलास शर्मा पर कई आपत्तियाँ और मतभेद उभर कर आए। नामवर सिंह ने इस अंक के अन्त में 'साहित्य में प्रगतिशील आन्दोलन की ऐतिहासिक भूमिका' नामक अपना निबन्ध प्रकाशित करवाया। उसमें उन्होंने लिखा– 'प्रगतिशील' शब्द पर इतना क्रोध इसलिए है कि 'परम्परा' से इसका विरोध है। 'परम्परा' पर डॉ. शर्मा की 'श्रद्धा' कुछ अधिक होगी तभी तो वे इसके लिए बुद्धिवाद तो क्या समूचे प्रगतिवाद को ही खारिज करने के लिए तैयार हैं।''[16] इस निबन्ध का समापन करते हुए वे डॉ. शर्मा पर कटाक्ष करते हैं–''परम्परा में नए 'प्रगतिशील' तत्त्व प्रायः वही होते हैं जिन्हें वर्तमान रचता है। विडम्बना यह है कि जिस प्रगतिशील धारा से उन्हें परम्परा को देखने की दृष्टि मिली है उसी का आज वे निषेध कर रहे हैं। आज की प्रगति का तिरस्कार और कल की परम्परा की जय-जयकार परम्परा-प्रेम नहीं, परम्परा-पूजा है। परम्परा की रक्षा के नाम पर यह नया परम्परावाद है। वर्तमान प्रगति के प्रयत्नों से निःसंग होने पर ही ऐसे परम्परावाद का उदय होता है। आज प्रगतिशील शिविर में भी परम्परावाद का नया उभार स्पष्ट दिखाई पड़ रहा है–साहित्य में भी और राजनीति में भी। इतिहास बनाने वाले इतिहास लिखने में व्यस्त हैं। दृष्टि आगे की ओर नहीं नहीं, पीछे की ओर है।''[17]

'आलोचना' के सहस्राब्दी अंक पाँच (अप्रैल-जून 2001), जो रामविलास शर्मा की बरसी पर प्रकाशित हुआ था, इसमें नामवर सिंह का निबन्ध 'इतिहास की शव-परीक्षा' रामविलास शर्मा के प्रति व्यक्त किए गए उपरोक्त विचारों का ही विकसित रूप है। 1886 के बाद डॉ. शर्मा ने ऋग्वेद पर लगातार काम किया। वे अपनी परम्परा की खोज में लगातार अतीत में गए और वेदों तक पहुँच गए। इस पर व्यंग्य करते हुए नामवर सिंह लिखते हैं : दरअसल परम्परा के आदि स्रोत की खोज में निकलना भी एक जोखिम का काम है। पीछे जाने में खतरा यह है कि आगे जाने की बात ही भूल जाती है या फिर पीछे चलते-चलते मुसाफिर इतना थक जाता है कि बढ़ने की ताकत ही नहीं बचती। यह आकस्मिक नहीं है कि 'प्रगति और परम्परा' के लेखक को फिर प्रगति की ओर बढ़ने की सुध ही न रही। प्रसंगवश फिराक साहब एक बार फिर याद आ रहे है। और इस बार उनकी रुबाई–

दामन उनका माजी से अटका सौ बार,

खाया हठधर्मियों का झटका सौ बार
माजी के दोष पर गए थे चढ़ने,
माजी ने उठा-उठा के पटका सौ बार।''[18]

'आलोचना' का अंक-79 अक्टूबर-दिसम्बर, 1986 'हिंदी नवजागरण' पर केन्द्रित निकला। इस अंक में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और मैथिलीशरण गुप्त पर कई लेख प्रकाशित किए गए। स्वयं नामवर सिंह ने संपादकीय 'हिंदी नवजागरण की समस्याएँ शीर्षक से लिखा, जिसमें डॉ. शर्मा की 'हिंदी नवजागरण' सम्बन्धी थिसिस की गहरी छानबीन की है। अंक का अन्तिम निबन्ध 'मैथिलीशरण गुप्त और आधुनिक काव्य-भाषा का विकास' शीर्षक है, जिसमें नामवर सिंह कहते हैं–''निश्चय ही गुप्त जी ने 'भारत-भारती' की लोकप्रियता के बाद काव्य में द्विवेदीयुगीन 'गद्यात्मकता' से मुक्त होने की कोशिश की लेकिन यह कोशिश उनके कनिष्ठ समकालीन छायावादी कवियों की तरह की ब्रजभाषा के मुकाबले खड़ी बोली को भी कोमल और मधुर बनाने की थी। कोमल और मधुर वह जरूर हुई– साथ ही संवेदनशील, व्यंजक और मूर्त भी, पर इस प्रक्रिया में वह चित्र और संगीत हो गई। सब कुछ हो जाने और पा जाने पर भी नहीं रही तो 'भाषा'–जो कि कविता का अपना धर्म है, जिसमें एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से संवाद करता है।...सही अर्थों में इस ऐतिहासिक आवश्यकता की पूर्ति का प्रयास तब शुरू हुआ जब साहित्य में प्रगतिशील

आन्दोलन की प्रेरणा से कविता आकाश से उतरकर धरती पर आई और सामान्य जनता से जुड़ने के लिए सक्रिय हुई। आरम्भ में निश्चय ही वह भी एक हद तक मैथिलीशरण गुप्त के आरम्भिक पद्यों की तरह युग के गद्य का अनुवाद ही करती रही, पर धीरे-धीरे सहज होकर वह कविता बनी यानी जनवाणी और मानववाणी। जन-जीवन और भाषा की जड़ों में जाकर कविता में खड़ी बोली की सम्भावनाओं की पहचान जिन नए कवियों ने कराई उनमें नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन, रघुवीर सहाय और धूमिल के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।''[19] इन कवियों की तालिका में मुक्तिबोध नहीं हैं। कारण यह है कि मुक्तिबोध लोकधर्मी कवि नहीं हैं, न उनकी काव्य-भाषा आदर्श काव्य-भाषा है। कविता की दूसरी परम्परा में आने वाले नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल और त्रिलोचन हैं, जिनके मूल्यांकन के लिए नए काव्यशास्त्र की आवश्यकता पर उन्होंने जोर दिया। 82वें अंक में उन्होंने त्रिलोचन के सन्दर्भ में यह बात कही और यह भी कि त्रिलोचन ने शुरू से ही इस पश्चिमी आधुनिकता की पीठ देकर अपनी काव्य-यात्रा की। 83वें अंक में उन्होंने संस्कृत के 'सुभाषितरत्नकोष' और 'सदुक्तिकर्णामृत' के अज्ञात कुलशील कवियों की लोकधर्मिता को रेखांकित करते हुए एक लेख लिखा है, जिनकी दूसरी परम्परा का प्रत्यभिज्ञान नागार्जुन-त्रिलोचन की लोकधर्मी कविता के आलोक में हुआ। इस निबन्ध में वे लिखते हैं–''कविता की दूसरी परम्परा वह है जो लोकधर्मी है। यह लोकधर्मी काव्य-परम्परा जितनी ऊर्जस्वी है, उतनी ही सुदीर्घ भी। वेदों की आदिम अग्नि में इसकी चिनगारियाँ मिल जाएँगी। किन्तु पुष्कल-रूप में यह विद्याकर के ग्यारहवीं सदी के 'सुभाषितरत्नकोष' और श्रीधरदास के बारहवीं सदी के 'सदुक्तिकर्णामृत' में सुरक्षित है। इस कविता का अपना काव्यशास्त्र भी है। प्रभुत्वशाली काव्यशास्त्र ने उस कविता का भी तिरस्कार किया है और काव्यशास्त्र का भी।''[20]

'आलोचना' के नागार्जुन पर केन्द्रित अंक के संपादकीय में सबसे पहले यह अवधारणा व्यक्त हुई, जिसमें वे यह स्पष्ट करते हैं कि नागार्जुन के सौन्दर्य-बोध में किसी प्रकार की कुण्ठा नहीं है तो इसलिए कि उनकी 'वर्ग-चेतना' या राजनीति का आधार जन-जीवन है–लोक-धर्म है।[21]

'आलोचना' के अक्टूबर-दिसम्बर, 1983 में लिखित संपादकीय 'प्रासंगिकता का प्रमाद' पर विवाद हुए। उसके अगले अंक जनवरी-मार्च, 1984 में बच्चन सिंह ने नामवर सिंह के विचारों से असहमति जताते हुए 'प्रासंगिकता के प्रश्न : एक संवाद' नामक टिप्पणी लिखी, जिसका उत्तर उसी अंक में दिया गया। 1988 ई. में नामवर सिंह ने प्रसाद की कविता 'प्रलय की छाया' का विश्लेषण कर पुनः प्रासंगिकता पर विचार करते हुए कहा कि सभी महान कविताएँ एक जैसी होती हैं, लेकिन हर प्रासंगिक कविता अपने ढंग से प्रासंगिक होती हैं। महान् कविताएँ सबके लिए महान् होती हैं, लेकिन प्रासंगिक होती हैं वे हर एक के लिए अलग-अलग। अक्सर देख गया है कि जिन कविताओं को आमतौर से सभी लोग प्रासंगिक कहते हैं, वे हकीकत में किसी के लिए प्रासंगिक नहीं होतीं, क्योंकि किसी को उनकी प्रासंगिकता का अनुभव होता ही नहीं। इधर पहले की कविताओं को प्रासंगिक बनाने का एक और चलन चल निकला है, कविता के वर्षों पुराने गर्द-गुबार को झाड़-पोंछकर उसे नितान्त समकालीन बना दिया जाता है।... किसी कृति की प्रासंगिकता उसके समूचे इतिहास में ही सम्भव है–ऐसा इतिहास जो कृति के सृजन-क्षण से लेकर ग्रहणशीलता के सभी क्षणों तक फैला हुआ है। जरूरी नहीं कि जो कृति आज अप्रासंगिक प्रतीत हो रही है वह कल भी अप्रासंगिक होगी ही। इतिहास-धारा में ऐसी अनेक कृतियाँ हैं जो अप्रासंगिक से प्रासंगिक बनी हैं और प्रासंगिक से अप्रासंगिक।

नामवर सिंह के सम्पादन में 'आलोचना' के 1967 से 1990 तक 93 अंक निकले। इसके बाद उसका प्रकाशन स्थगित कर दिया गया। इस बीच राजकमल प्रकाशन का प्रबन्ध भी बदला। शीला सन्धू के हाथों से निकलकर यह अशोक महेश्वरी के हाथों में आ गया। 'आलोचना' 2000 ई. में पुनः प्रकाशित होने लगी–नई रूपसज्जा और सामग्री के साथ। इसके अंकों को सहस्राब्दी अंक कहा गया। इसका पहला अंक अप्रैल-जून, 2000 'फासीवाद और संस्कृति का संकट' विषय पर विशेषांक के रूप में निकला। इसका संपादकीय उन्होंने 'पुनर्नवता' शीर्षक से लिखा, जिसकी प्रारम्भिक पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं–''आलोचना अग्नि पक्षी है। फिर जी उठी। अपनी राख से। अपनी ही आग से। अब यह पुनर्नवा आलोचना है। पुनर्नवता का यह प्रथम अंक है।''[22] इस अंक के अन्त में उन्होंने रामस्वरूप चतुर्वेदी के एक लेख, जिसमें उन्होंने कबीर के एक पद को धर्मांतरण के विरोध में घोषित करते हुए लिखा था, के जवाब में 'कबीर को भगवा' शीर्षक से लिखा। इसके दूसरे अंक में रामस्वरूप चतुर्वेदी की टिप्पणी प्रकाशित कर पुनः 'कबीर को अगवा?' शीर्षक से उस पर प्रतिक्रिया व्यक्त की है।

समसाब्दी अंक–दो मूलतः रामविलास शर्मा और केदारनाथ अग्रवाल के देहावसान हो जाने पर 'स्मरण में है आज जीवन' शीर्षक से निकाला गया, जिसमें नामवर सिंह ने 'मित्र संवाद और गद्य की विलुप्त कला' शीर्षक से इन दोनों मित्रों के पत्रों को आधार बनाकर एक अलग ही अन्दाज और मिजाज का निबन्ध लिखा है। इस निबन्ध में वे कहते हैं–''समालोचना का कण ही ऐसा है कि समालोचना मित्र विहीन होने के लिए अभिशप्त है। समालोचक शत्रु ही अधिक होते हैं, मित्र कम। इन शत्रुओं में भी आलोचकों के ज्यादा कवि-कथाकार होते हैं। रामविलास जी इसके अपवाद नहीं हैं। सच तो यह है कि आरम्भ

के बीस-पच्चीस वर्षों में अधिकतर कवि-लेखक उन्हें अपना शत्रु समझते थे, बाहरी खेमें के ही नहीं, प्रगतिशील खेमे में अन्दरवाले भी। बाहरी खेमे के एक कवि ने रामविलास जी को ही सम्बोधित करते हुए कहा : 'हे युग के अनुवादक! तुमने मार दिए सब लेखक!' प्रगतिशील खेमे के और साथ ही रामविलास के घनिष्ठ मित्र त्रिलोचन ने 'अपने' शर्मा के नाम एक सॉनेट ही अर्पित कर दिया। उस सॉनेट की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं–

...शर्मा ने स्वयं अकले
बड़े-बड़े दिग्गज ही नहीं, हिमालय ठेले
उद्यम करके कोलतार ले-लेकर पोता,
बड़े-बड़े कवियों की मुख-छवि लुप्त हो गई
गली-गली में उनके स्वर की गूँज खो गई।

ऐसी स्थिति में कवि केदार और समालोचक रामविलास की मैत्री एक आश्चर्य ही है।'' आगे उन्होंने लिखा–''इस दृष्टि से देखें तो 'मित्र संवाद' साहित्य की आलोचना के बहुमूल्य सूत्रों की खान है, क्योंकि वह दो संवेदन-सजग कवि-आलोचकों की कार्यशाला का बेजोड़ रोजनामचा है–साठ वर्षों की साहित्य-साधना में प्राप्त अनुभवों का दस्तावेज।''[23]

2001 ई. के अप्रैल-जून का सहस्राब्दी अंक पाँच रामविलास शर्मा पर केन्द्रित किया गया, जिसके अन्त में प्रकाशित नामवर सिंह का निबन्ध 'इतिहास की शव-साधना' जिस बेदर्दी और आक्रात्मक तेवर के साथ रामविलास शर्मा की साहित्य-साधना की पड़ताल करता है, उसके उलट 'मित्र संवाद' पर लिखे लेख में रामविलास शर्मा के प्रति उनके आदर, लगाव और सहृदयता को दर्शाता है। नामवर सिंह अपने जीवन में सबसे ज्यादा प्यार और गुस्सा, आदर और तकरार रामविलास जी के प्रति ही रखते थे। यही कारण है कि उनकी महत्ता का बखान कभी बढ़-चढ़कर करते थे और कभी उनकी स्थापनाओं से सबसे ज्यादा टकराने वाले भी वही होते थे।

सहस्राब्दी अंक छः में नामवर सिंह के 'शव-साधना' वाले लेख पर आधारित कुछ नई बहसों की शुरूआत करने वाले पुरुषोत्तम अग्रवाल का निबन्ध प्रकाशित किया गया, जिसके प्रारम्भ में वे नामवर सिंह के उक्त निबन्ध पर सटीक टिप्पणी करते हैं कि यह लेख प्रत्यक्षतः रामविलास जी के परम्परा-बोध से जिरह करता है, और इसी कारण इसे लिखे जाने के समय और इसके स्वर को लेकर बहुत से लोग स्वाभाविक रूप से आहत और क्षुब्ध हैं। लेकिन यह लेख सिर्फ प्रतिपक्ष से ही नहीं, लेखक की अपने-आपसे भी जिरह का प्रमाण देता है और इस तरह 'परम्परा' के विषय में दशकों में चली आ रही कशमकश का एक 'सब-टेक्स्ट' भी रचता है।

सहस्राब्दी अंक दस-ग्यारह 'उत्तर-आधुनिक दौर में इतिहास' विषय पर केन्द्रित है और इसमें नामवर सिंह का निबन्ध 'इतिहास के प्रेत' प्रकाशित है। यह निबन्ध 'साहित्य की मुक्ति या कछुआ धर्म' की अगली कड़ी है। लेकिन फर्क यह है कि इस निबन्ध को गुजरात के दंगों के बाद लिखा गया है, इसलिए इसमें इतिहास की पड़ताल साम्प्रदायिकता और उत्तर-आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में किया गया है। इस निबन्ध का एक सिरा उनके 2001 में लिखे निबन्ध 'इतिहास की शव-साधना' से भी जुड़ा हुआ है, जब वे कहते हैं–''कभी-कभी इतिहास-बोध भी बोझ बन जाता है। वह 'शापमय वर' साबित होता है। जितना लम्बा अतीत, उतना भारी बोझ।'' आगे उन्होंने निष्कर्ष देते हुए कहा कि ''क्रान्ति अपनी 'कविता' अतीत से नहीं, भविष्य से ही प्राप्त कर सकती है। इसी बात को इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि क्रान्ति की 'कविता' इतिहास के प्रेतों से नहीं, बल्कि भविष्य के फरिश्तों से ही प्राप्त हो सकती है। इसमें आशंका है तो सिर्फ यह, इन्तजार करें फरिश्तों का और प्रकट हों प्रेत!''[24]

यह निबन्ध बेहद दिलचस्प तरीके से लिखा गया है। असगर वजाहत की एक कहानी के उदाहरण से शुरू होकर फैज की इन पंक्तियों से इसका समापन होता है– 'आइए, हाथ उठाएँ हम भी/हम जिन्हें रस्मे-दुआ याद नहीं/हर्फे-हक दिल में खटकता है जो काँटे की तरह/आज इजहार करें और खलिश मिट जाएँ।''[25] बीच में अनेक कवि-कथाकार- विचारक के सन्दर्भ। संवादात्मक शैली में रचित यह निबन्ध बेहद विचारोत्तेजक है, बहस-तलब है।

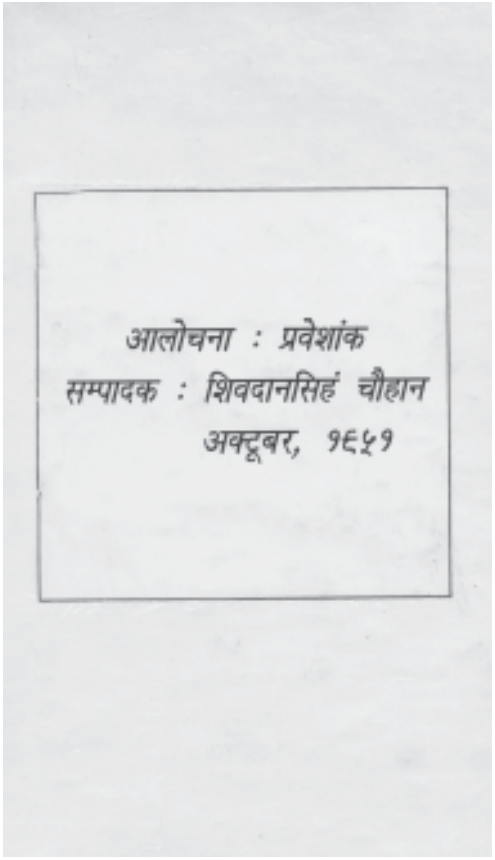

पुनर्नवा 'आलोचना' का अट्ठाइसवाँ अंक हजारी प्रसाद द्विवेदी के शताब्दी वर्ष पर निकाला गया है, जिसमें नामवर सिंह ने अपने दो निबन्धों के द्वारा अपने गुरुदेव की दो विशेषताओं को उजागर किया है। हजारी प्रसाद द्विवेदी की पहली विशेषता थी कि वे 'पुनर्नवता की प्रतिमूर्ति' थे। इतिहास या अतीत के बासी प्रसंगों को भी वे ताजा कर देते थे। उनकी दूसरी विशेषता थी कि उनके अन्दर दो व्यक्तित्व था, एक विचारक और समालोचक का तथा दूसरा रचनाकार का। ये दोनों एक-दूसरे से अभिन्न होते हुए भी अलग-अलग महत्ता रखते थे।

'आलोचना' पत्रिका सम्पादन नामवर सिंह ने पहले कई वर्षों तक अकेले किया। प्रारम्भ में दो-तीन अंकों में सहायक के रूप में विष्णु खरे थे, किन्तु उनका नाम नहीं छपता था। 1981 से 1985 तक नन्दकिशोर नवल उसके सह-संपादक रहे। 1986 से 1990 तक परमानन्द श्रीवास्तव। पुनर्नवा 'आलोचना' जो 2000 ई. से निकलना शुरू हुआ, तो प्रधान संपादक के रूप में नामवर सिंह का और संपादक के रूप में परमानन्द श्रीवास्तव का नाम छपने लगा। इसके

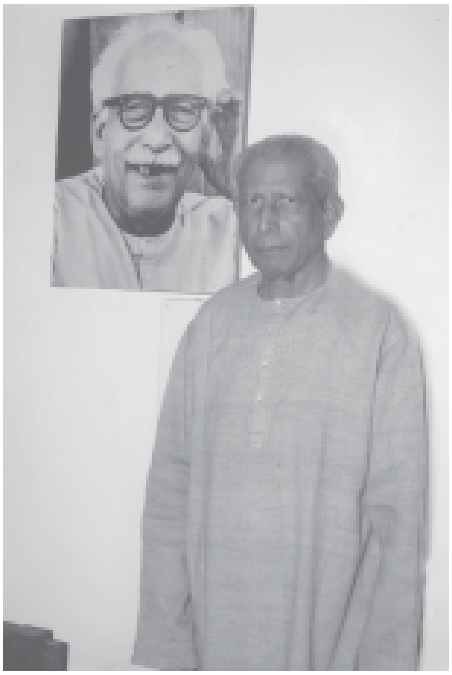

प्रारम्भिक दो अंकों में सह-संपादक अरविन्द त्रिपाठी थे। अंक पच्चीस से परमानन्द श्रीवास्तव की जगह अरुण कमल इसके संपादक हुए। इन सहयागियों के साथ नामवर सिंह ने इसको ऐतिहासिक महत्त्व की पत्रिका बना दिया। इस पत्रिका में अनेक विचारों का आलोचक छपते रहे हैं, यहाँ तक कि विष्णुकान्त शास्त्री और विद्यानिवास मिश्र भी। यह एक खुला मंच था–चन्द लेखकों और सीमित विचारधारा की यह पत्रिका नहीं थी। इसमें नामवर सिंह से असहमति रखने वाले लेखक भी छपते रहे हैं। नन्दकिशोर नवल की पुस्तक 'हिंदी आलोचना का विकास' और मैनेजर पांडेय की 'साहित्य की इतिहास-दृष्टि' 'आलोचना' में ही धारावाहिक रूप से छपी। इसमें विश्वास साहित्य की नई-से-नई प्रवृत्तियों की जानकारी देने वाले निबन्ध भी लगातार छपे। हिंदी के अनेक महत्त्वपूर्ण साहित्यकारों पर इसके विशेषांक निकले। इसमें गैर आलोचक अर्थात् रचनाकारों से भी लगातार लिखवाया और प्रकाशित किया गया। हर अंक में कुछ कविताएँ भी प्रकाशित की गईं। इस तरह सन् 1967 ई. से आज तक यह पत्रिका हिंदी के साहित्यिक परिदृश्य में लगातार सक्रिय रही और वह अनेक विषयों में हस्तक्षेप करती हुई जीवंत बनी रही।

नामवर सिंह स्वयं मानते हैं कि उनके आलोचना-कर्म में 'आलोचना' का सम्पादन उल्लेखनीय है। 1967 से नामवर सिंह का ज्यादातर लिखा 'आलोचना' में ही छपा। उन्होंने सिर्फ एक पुस्तक इस बीच स्वतन्त्र रूप में लिखा–'दूसरी परम्परा की खोज'। 1989 में प्रकाशित उनके निबन्धों का संग्रह 'वाद-विवाद-संवाद' के ज्यादातर निबन्ध 'आलोचना' में ही प्रकाशित हुए थे। इसलिए नामवर सिंह के आलोचना-कर्म की चर्चा आलोचना' पत्रिका को अलग करके नहीं की जा सकती। इस सन्दर्भ में परमानन्द श्रीवास्तव ने सही लिखा है कि 'आलोचना' को सार्थक वाद-विवाद-संवाद का आदर्श बनाने की यह सारी कल्पना नामवर सिंह के अपने आलोचनात्मक संघर्ष से अभिन्न है। 'आलोचना' और नामवर सिंह का साहित्यिक व्यक्तित्व इतना घनिष्ठ है कि उसे अलगाना मुश्किल है। उन्होंने इस पत्रिका के द्वारा आलोचना के मान को ऊपर उठाया। उनके अपने आलोचनात्मक संघर्ष का भी यह जीवंत दस्तावेज है। 'आलोचना' के महत्त्व को रेखांकित करते हुए परमानन्द श्रीवास्तव का यह कथन उल्लेखनीय है–''एक पत्रिका अपने समय के साहित्य परिदृश्य में कैसे हस्तक्षेप करती है, कैसे एक दौर के रचनात्मक बदलाव के लिए उपयुक्त नाम खोजने के लिए यत्नशील होती है–'आलोचना' के अनेक अंक इसके उदाहरण हैं। निष्क्रिय जानकारी उपलब्ध करवाने वाली पत्रिकाएँ हर दौर में मौजूद रहती हैं। सक्रिय संवाद का जीवंत सिलसिला बनाए रखने वाली पत्रिकाएँ पत्रकारिता के इतिहास में विरल हैं। नामवर सिंह के सम्पादन में प्रकाशित 'आलोचना' के अंक अक्सर विवादास्पद भी रहे हैं। विवादास्पद, पर महत्त्वपूर्ण। उनकी अपनी कल्पना के अनुसार किसी अंक की सार्थकता तभी मानी जानी चाहिए जब उसमें कुछ सर्वथा नया, नए सवाल उठाने वाला, नई उत्तेजना पैदा करने वाला रचना-सन्दर्भ महत्त्वपूर्ण हो। नवीनता के लिए यह आग्रह नवीनता के प्रति कोरी आसक्ति से भिन्न, बौद्धिक सजगता या आलोचनात्मक चौकन्नापन लिए हुए था। जिन्हें आलोचक या संपादक के रूप में नामवर सिंह की उपस्थिति महज विवादास्पद होने की हद तक दिलचस्प लगती है, उन्हें शायद इसका आभास नहीं कि ऐसे एक उत्तेजक संपादकीय वक्तव्य या एक महत्त्वपूर्ण स्थापना के पीछे नामवर सिंह का आलोचनात्मक संघर्ष कितने महत्त्वपूर्ण और कई बार अछूते सन्दर्भों या स्रोतों के गुजर चुका होता है।''[26]

सन्दर्भ

1. प्रकाशन समाचार, मार्च, 2009, पृ. 11
2. आलोचना के रचना-पुरुषः नामवर सिंह, पृ. 502
3. नामवर के विमर्श, पृ. 333
4. रचना के आलोचना, पुरुष, पृ. 502
5. काशी के नाम, पृ. 52
6. आलोचना के रचना-पुरुष, पृ. 505
7. वही, पृ. 504-505
8. आलोचना (अंक एक) अप्रैल-जून, 1967, पृ. 5
9. आलोचना के रचना-पुरुष, पृ. 506
10. आलोचना, जुलाई-सितम्बर, 1968 का संपादकीय, पृ. 6
11. आलोचना, अक्टूबर-दिसम्बर, 1969, पृ. 6
12. आलोचना, (अंक 18), जुलाई-सितम्बर, 1971, पृ. 8
13. आलोचना, अक्टूबर-दिसम्बर, 1971, पृ. 9
14. आलोचना, जनवरी-मार्च, 1972, संपादकीय, पृ. 7
15. आलोचना, अंक-60-61, संपादकीय, पृ. 8
16. आलोचना, अंक-77, अप्रैल-जून, 1986, पृ. 131
17. वही, पृ. 137
18. आलोचना, अप्रैल-जून, 2001, पृ. 248
19. आलोचना, अंक-79, अक्टूबर-दिसम्बर, 1986, पृ. 142
20. आलोचना, अंक-83, अक्टूबर-दिसम्बर, 1987, पृ. 1
21. आलोचना, जनवरी-जून, 1981 (अंक-56) संपादकीय, पृ. 1
22. आलोचना, सहस्राब्दी अंक, एक, पृ. 5
23. आलोचना, सहस्राब्दी अंक, दो, पृ. 13
24. आलोचना, सहस्राब्दी अंक, दस-ग्यारह, जुलाई-दिसम्बर, 2002, पृ. 230
25. नामवर के विमर्श, पृ. 335

यशवंत नगर, मार्खम कालेज के निकट, हजारीबाग (झारखंड)-825301, मो. 09835312665

उपेन्द्र कुमार की कविता का स्थापत्य

प्रमोद सिन्हा

उपेन्द्र कुमार की कविता का स्थापत्य समकालीनों की भीड़ से उन्हें इस मायने में अलग करता है कि उनमें अनुभूति की तीव्रता उसे यथावत करती है। ऐसा करने की रचनात्मक यात्रा में उनकी रचना-प्रक्रिया कहीं भी कुछ भी सेंसर नहीं करती। जैसा जो देखती है, उसे वैसा ही अनुभव करती है और उसे उसी तीव्रता से उछाह से, उसी तरह व्यक्त भी करती है। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में अपहचाना या रूपान्तरता का विछोह नहीं लगता। उनमें अपने आपास की बातों की वह मुकम्मल मिकदार है जिसमें माटी की महक, उसकी सोंधी गन्ध, उसकी भाषा की सहजता, अपने अनगढ़ रूप में अपनी पूरी परिपक्वता के साथ एकनिष्ठ मिलती है। भारत भारद्वाज कहते हैं कि उनकी कविता के दो छोर हैं। एक छोर पर यदि पीछे छूटे गाँव-घर की स्मृतियों का द्वन्द्व है तो दूसरे छोर पर सामने पसरे महानगर की भयावहता और अपने समय की विडम्बना और विद्रूपताओं में फँसा हुआ मनुष्य है, जो मुक्ति के लिए छटपटा रहा है। लेकिन उपेन्द्र कुमार की कविता का असली घर है उनकी संवेदनशीलता जिसके कारण अपने परिवेश की छोटी-से-छोटी वस्तु, पदार्थ, वनस्पति तक में वे कविता का कोना ढूँढ लेते हैं। और यह कविता का कोना ढूँढना कोई स्केप या मुहावरा न होकर उसमें खुद की खोज और उससे होती उसकी लगातार टकराहट है, जिसमें उसका जागरूक 'स्व' और रहगुजर अपनी राह खुद ही तलाश करता होता है।

भारद्वाज जिसे दो छोर कहते हैं वह आलोचक के समझ और सोच की भी गुत्थी है। दरअसल यह एक ही छोर का विस्तार है। जो कि उनके बचपन में गाँव बक्सर से पटना होते हुए दिल्ली जैसे महानगर की यात्रा, स्मृतियाँ, अनुभव और उसकी संवेदना की टकराहट के साथ ही साथ लगातार विस्तृत होता रहा है। उसमें अपना अपनापा, अपने प्यूरिटन फार्म में खोजता रहा है। उसके बदलते रंगों को पहचानने की कोशिश करता रहा है ताकि उसके अनुभवजन्य फार्म अपने पूरे परिवेश के साथ उजागर हों, और उनकी कला ही नहीं बल्कि पौराणिक आख्यानों को भी क्षति न पहुँचे। अपनी कविताओं में जब कवि मिथक का प्रयोग करता है तो वे केवल मिथक ही नहीं होते बल्कि मिथक के माध्यम से समकालीन सन्दर्भों को भी अपने नए अर्थों में उजागर करते हैं। उस पर प्रकाश डालते हैं। एक तरह से मिथकों को समकालीनता से जोड़कर हालात की गिरावट या उठान का सन्दर्भ रोपते हैं। उसे एक नया अर्थ देते हैं।

'उदास पानी' की कविताएँ उपेन्द्र कुमार की चुनी हुई कविताएँ हैं जिसे उन्होंने 'बूढ़ी जड़ों का नवजात जंगल', 'चुप नहीं है समय', 'प्रतीक्षा का पहाड़', 'गाँधारी पूछती है' आदि से लिया है और साथ ही अपनी कुछ चयनित अप्रकाशित नई कविताओं को भी जोड़ा है। परन्तु इसके चयन की आधार दृष्टि, प्रतिनिधि कविताओं की ओर ही रही है। इसलिए इस संग्रह की पठनीयता और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है। उपेन्द्र की कविताओं का मूल स्वर व्यवस्था की जड़ता के प्रति उनके विरोध का रहा है। वे आजादी के पिछले पचास वर्षों में आए सोच, सामाजिक बदलाव ही नहीं बल्कि व्यवस्था के प्रति आए विरोधी स्वर तथा उनके अस्वीकार को भी रेखांकित करना चाहते हैं। आखिर क्या कारण है कि प्रयत्नों के बावजूद न सम्बन्धों का जमाव टूटा है और न सामाजिक, राजनीतिक और व्यवस्था के प्रति सरोकार का चेहरा साफ हुआ है बल्कि उनके व्यवहार का प्रारूप और भी गाढ़ा होता गया है। उलझता चला गया है। इसे उन्होंने कहीं मिथकों के माध्यम से व्यक्त किया है तो कहीं बिम्बों और कहीं सीधे-सीधे भी। पर सब कहीं वह पूरी तरह व्यक्त हो सके यही केन्द्रीय भाव रहा है।

'हस्तिनापुर निर्णय नहीं करता' के पीछे हस्तिनापुर के केन्द्रीय सत्ता की निर्णय-निहित उदासीनता है। सच तो यह है कि निर्णय तभी होंगे जब कि उनसे सत्ता पक्ष लाभान्वित होगा। अगर व्यवस्था को निर्णय से लाभ नहीं तो व्यवस्था कोई निर्णय क्यों ले या लिए गए निर्णयों को क्यों कार्यान्वित करे। यह व्यवस्था की अक्षमता नहीं, व्यवस्था की राजनीति है। यही आज के कवि की भाषा है। नहीं तो इतने सारे सामाजिक परिवर्तनों के अधूरे सपने कब के पूरे हो गए होते। दरअसल व्यवस्था निर्णय न लेकर दूसरे सामाजिक निर्णयों को भी अपनी पक्षधरता न बदलने का प्रयत्न

करती है। वह आम आदमियों को उनकी मजबूरी से जोड़कर अपनी पक्षधरता में लाना चाहती है। उसे समेटना चाहती है। अपने अनुकूल बनाना और उसे भुनाकर, अपनी सत्ता के पाये में दबा, अपनी पकड़ पूरी तरह मजबूत करना चाहती है। यह वह एक खेल है जिसमें राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक शतरंज की बिसात बिछी है।

अनिर्णय में जीवित है
हस्तिनापुर
लोग मुँह लटकाए
पक्षधर और तटस्थ
प्रतीक्षा में हो गए
जड़
कुछ पहले ही
कूदे थे दोनों पक्ष
दोनों पक्ष चाहते थे
निर्णय हो
लम्बी बहस के बाद
निर्णय न हो सका
हाथ मलता...
पक्ष
और प्रतिपक्ष सभी
थे उद्विग्न,

और अन्तिम स्थिति यह है कि दरबारी, व्यवस्था, शासक, प्रजा ही नहीं याचक देय सभी इतने दिनों बाद जाकर इस बात से भी वाकिफ हो गए हैं कि–

'हस्तिनापुर से
कोई नहीं लौटता शायद कभी निर्णय हो
शायद कभी नहीं'

यह कभी हाँ कभी नहीं, भविष्य की अनिश्चितता का द्योतक है, जिसका सच आज भी उतना ही खरा, नंगा और अश्लील है जितना आज से पाँच हजार साल पहले फ्रीज हो गया था।

कवि ने इन कविताओं में मिथक का खुलकर प्रयोग किया है क्योंकि सारी बातें अभिधा में नहीं कही जा सकतीं। बावजूद इसके वह यह भी जानता है कि कविताओं में मिथक का प्रयोग भी अर्थगत दृष्टि से तलवार की धार पर चलना है। मिथक की अर्थगत अन्विति न होने पर अर्थ के बिखर जाने का खतरा रहता है और इसी दृष्टि से उसमें इसका परिपाक भी होता है। उपेन्द्र की कविताओं में मिथक अपने आप में सांस्कृतिक धरातल की प्रायोगिक गरिमा लिए रहते हैं और उनकी जनमानस में भी पैठ है इसलिए इसके प्रयोग की अर्थगत पुष्टि अपने आप हो जाती है। कवि को महाभारत के पात्र बार-बार आकर्षित करते हैं। शायद इसके पीछे कारण यह है कि इनके माध्यम से उसे उलझे हुए वर्तमान सन्दर्भों को चमकाने में भी मदद मिलती है और बिम्बमय रूप में भी वे सामाजिक, राजनैतिक और पूरे परिवेश को धरातल से ऊपर उठाने में सहायक होते हैं। राम-कृष्ण, रावण-विभीषण, एकलव्य, शिखण्डी, शकुनि, द्रौपदी, दुर्योधन ही नहीं कठोपनिषद् के नचिकेता का चरित्र भी एक जिज्ञासु के रूप में कवि को बार-बार आकर्षित करता है। यथा–

'नचिकेता
खड़ा यम द्वार पर
है विचारमग्न
सत्य को भी सिद्ध करने हेतु
जहाँ आवश्यक है प्रमाण
वहाँ ले कौन से समाधान
लौटेगा यह वापस
कुछ सार्थकता भी होगी क्या
मृत्यु के रहस्यों के अनावरण की
जीवन ही जहाँ
नित्य नए ढंग से
हो रहा है तिरस्कृत
विश्व व्यापकता
होती नहीं है प्रमाण
औचित्य का
परन्तु भ्रष्टाचार की सफलता से
ललचाए सभासद
इसकी व्यापकता का तर्क
चाहते हैं तान देना
ढाल की तरह
अन्तरात्मा की धिक्कारों के समक्ष
अँधेरी सुरंग में उतरने से पहले।'

यह कितना सच है। जीवन-मृत्यु के सत्य के रूप में नचिकेता की प्रासंगिकता आज के इस युग में भी उतना ही तीखा सच है जितना शताब्दियों पहले भी था। पर इसके माध्यम से जिस पूरी सामाजिक विडम्बना को प्रोजेक्ट और प्रक्षेपित किया गया है वह कवि की अपनी रचनात्मकता और उसकी अपनी दृष्टि है। क्षणभंगुरता के सत्य और मृत्यु के रहस्यों को जानने के बाद भी यदि भ्रष्टाचार की सफलता से ललचाए धृतराष्ट्र के सभासद अन्तरात्मा के धिक्कार को भी नजरअन्दाज कर देते हैं तो यह मानवीय पतन की चरम सीमा है जिसे बिना मिथक की सर्वांगीणता के सशक्त रूप में व्यक्त ही नहीं किया जा सकता है। यथा–'स्वयं ही तो तुम/ उलझे थे/ संख्याओं के इस खेल में/ अपने ही हाथों तो/ फेंके थे पासे तुमने युधिष्ठिर/ अब संख्याओं को/ सिद्धान्तों के चीर-हरण हेतु! उद्यत देख/ क्यों हो रहे हो अधीर/ क्या नहीं था ज्ञात तुम्हें/ कि ऐसे खेल में/ हों कोई भी नियम/ कुछ भी हों शर्तें/ दाँव पर लगा हो चाहे जो भी/ हारेगा वही/ होगा जो सही...। प्रश्न जो पूछते हैं/ संख्या बड़ी है/ पाँच की अथवा सौ की/ कितना सरल है चुनना/ अकेले कृष्ण की तुलना में/ चौदह अक्षौहिणी सेना को।

कवि द्वारा किसी और दूसरे तरीके से व्यक्त ही नहीं किया जा सकता था। व्यवस्था के जमाव को जिस रूप में उपेन्द्र ने खारिज किया है ओर उसके इस खारजि होने की प्रक्रिया में भी जो तर्क दिए हैं वे न केवल सन्दर्भ, अर्थ बल्कि अपनी विरोध के प्रति पूरी साझेदारी रखते और निभाते हैं।

कृष्ण और कर्ण महाभारत के मुख्य पात्र तो हैं ही पर द्रौपदी और दुर्योधन की विडम्बना को जिस तरह सन्दर्भित किया गया है वह भी गौर करने लायक हैं। यथा–

फिर एक बार/ घूम रही है द्रौपदी/ इन्द्रप्रस्थ के/ नए भव्य प्रासादों में/ चढ़ती है सीढ़ियाँ/ नहीं पहुँच पाती कहीं/ उतरती हैं सीढ़ियाँ/ बन्द हैं गवक्ष/ बाहर का कुछ नहीं दीखता/ द्रौपदी खोलती है गवक्ष/ नहीं दीखता भीतर का भी कुछ/ न कहीं

जाती है/ न कहीं आती है द्रौपदी/ तेज-तेज चलती द्रौपदी/ गिर पड़ती है/ महल के/ उसी पोखर में/ जहाँ कभी गिरा था दुर्योधन/ पूरी तरह/ उस पानी से कभी/ नहीं निकल पाती है/ दुर्योधन की ही तरह/ द्रौपदी भी।

यह सच है कि विषय की दृष्टि से ये आख्यान और मिथक तब से आज तक एक से एक बड़े परिवेश को समेटे हुए हैं। और पारम्परिक आख्यानों को भी नए सन्दर्भ में कवि ने इसे ऐसे और इस तरह प्रक्षेपित किया है कि पाँच हजार वर्ष पूर्व के आख्यान की आज की स्थितियों को, उसकी बारीक से बारीक बुनावट को दर्शाने में सफल है। कविता के माध्यम से वे अपनी और अपनी अभिव्यक्ति को बनाए हुए हैं। ये कविताएँ आदमी और आदमी के बीच में सन्नाटे को तोड़ती हैं। संवाद करती हैं। और उनके सम्बन्धों के क्षरण को रोकती हैं। व्यस्तता और आत्मसीमित उपादानों से उसके सामाजिक सरोकार को एक करती हैं और आदमी कहीं भी अकेला असहाय और एकाकी नहीं महसूस करता। उसके आगे का रास्ता खुलता है। जिन्दगी का अर्थ उजागर होता है। सच तो यह है कि उपेन्द्र कुमार जी की ये कविताएँ सांस्कृतिक धरोहर की संवेदना को एक नया अर्थ देती हैं और उस सघन अर्थ को वहन करने की क्षमता रखती हैं। साथ ही कवि के आत्म-साक्षात्कार का साधन भी बनती हैं। इसमें कवि की ही नहीं बल्कि पाठक की संवेदना भी पूरे उद्वेग के साथ उजागर होती है। इसलिए ये कविताएँ जरूरी इस मायने में बन जाती हैं कि वे आदमी और आदमी की तासीर को बनाए रखती हैं।

ये कविताएँ आदमी की अपूर्णताओं को पूरा इसी हक से करती हैं कि– यथा–

'एक नदी
जो बैठी नहीं थी मेरे सामने
सुनाती अधूरी कविता
वरन बह रही थी मेरे अन्दर
समस्त अधूरेपन को–
बहाकर ले जाती हुई।'

इसमें जिस अधूरेपन को बहाकर ले जाने की बात को इंगित किया गया है, वह संवेदना की पूर्णता को पाने का सतत प्रयास है–यथा–

'उड़ रहे हैं अनेक पक्षी
अजान दिशाओं की ओर
और उन्हीं के पीछे
मैं भी वैसे ही
अनन्त में उड़ रहा हूँ।'

यह उड़ान एक अनथक यात्रा का प्रतीक है जो जाने अनजाने भी कहीं रुकती नहीं। उड़ान भरने के लिए सतत् तलाश रहती है। यही ललक विकास की ओर आदमी को ले जाती है और वह नित नया अपना गन्तव्य खोजती रहती है। दूसरों को तात्कालिक स्थितियों में यह उड़ान प्रयोगहीन लग सकती है। पहर वह ऐसा है नहीं क्योंकि अव्यक्त के लिए जिस तरह जन्म स्पष्ट है उसी तरह उसका गन्तव्य और उसका मरण समय भी।

उपेन्द्र में मानवीय संवेदनाओं को पकड़ने और उसे आत्मसात करने की एक गहरी ललक है। जिसके चलते वह अपने से और अपने से विपरीत परिस्थितियों से लगातार टकराता रहता है। वह अपने को सतत् प्रश्नाकुल महसूस करता है और पूरी व्याकुलता से उसका उत्तर ढूँढता रहता है। खुद-ब-खुद सवालिया जुमले की बात किसी कवि के लिए आरम्भिक स्थिति नहीं होती बल्कि वैचारिक परिपक्वता की चरम सीमा है। यथा–

'उस समय भी–
जब बतिया रहे होते हैं हम
अपने आप से
तो क्यों नहीं बोलते हैं
केवल सच?'

और यह सच न बोलना ही सारी व्यंग्य एवं विद्रूपताओं की जड़ की तह में गेंडुर मार के हमारे भीतर बैठा है, जिसके पहचान लेने के बाद नए-नए अर्थ खुलते हैं, जिन्दगी अर्थवत्ता लिए हुए अर्थवान लगती है और एक सार्थक सच की शुरुआत आज भी जाने अनजाने शुरू हो गई है। यथा–

'शब्द भी सृजन है
और अर्थ भी
उससे भी अधिक
आविष्कार
पर उससे भी महत्त्वपूर्ण
निरन्तरता
चाहे धीमी या तो तेज'

इस निरन्तरता की स्थिति में भी उसका वेग कहीं भी कम नहीं होता बल्कि ऐसा होने पर वह तत्काल सम्भलता है और लिखता है–'वह तेज ही होगी। हर भावी तेवर की तरह।' क्योंकि उसकी सार्थकता सच को ही ग्रहण करने में है। अर्थहीन चीजों से हमेशा ही उसे अलग करने की जद्दोजहद रही है।

'जब कविता
दीखती नहीं है
तब किसी सूप में
फअक रही होती है
शब्दों के कचरे की
उड़कर अर्थहीन
सार्थक बच रहते हैं
जटिल प्रक्रिया में
ताकि बन सके समर्थ–'

कवि मन का बार-बार गाँव लौटना अपनी जड़ों की ओर लौटना है। कम-से-कम यह साबित करता है कि वह अपनी जड़ों को भूला नहीं है और न वह उससे कटा ही है।

इस बार जब गाँव गया
तो देखा थोड़ा और ढह गया था।
मेरा पुश्तैनी मकान...

और यह मकान का थोड़ा-थोड़ा गिरना खुद से परम्परा के हटने और उससे मुक्त होने की प्रक्रिया के अनुरूप है–जो कि जाने या अनजाने चलती रहती है। यही आगे की ओर बढ़ने का संकल्प, रास्ता और विकास भी देता है क्योंकि यह उसकी ऊर्जा के मूल में है। यथा–

'जब भी होती है
फसल भरपूर
होते हैं पीले हाथ बिटिया के
हरी होती है कोख

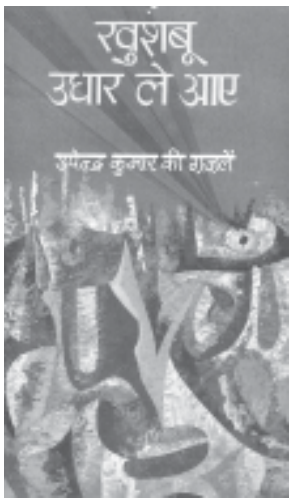

लाता है डाकिया मनीऑर्डर
लौटते हैं परदेसी
सुलझ जाते हैं विवाद...'

उपेन्द्र कविता में गाँव-जवार की संवेदना और उसकी पकड़ या स्पंदन उसकी निजता के साथ। वह एक ऐसा निजीपन लिए हुए है, जिसमें शाश्वत सत्य और उस सत्य की टकराहट है, जिससे उसे जीवित रहने की सतत् ऊर्जा और ताकत मिलती रहती है।

'पहुँचती है जब कानों तक
थकी बूढ़ी रामचरितमानस गाती आवाज

तो आता है याद
राम का वनवास
उभरता है बरसों घर से
बाहर रहने का पश्चाताप।'

कविता की भाषा अपना मुहावरा खुद तलाशती और उसे गढ़ती है। साथ ही नए सामाजिक सन्दर्भों का अर्थ भी पुराने सम्बन्धों की तारतम्यता में देखती है। उसे आगे बढ़ाती है और यही शब्द और अर्थ का प्रजातन्त्र है जिसकी अनुकूलता जनमानस और उसके साधारणीकरण में रमता है। इसमें केवल सपाटता या अतिकर्षण नहीं बल्कि उसमें मिथक-माध्यम से सामाजिक सौन्दर्य और उसके विकसित हो रहे पारम्परिक और नए संस्कारों की व्यंजना भी है। यह कविता संवेदना को पारदर्शी ही नहीं मर्मस्पर्शी भी बनाती है। यही उसकी भाषा-गत विशेषता है और इसकी पहचान भी।

एम-115,विवेक विहार, सेक्टर-82, नोएडा (उ.प्र.)
मो. 0203261803

फिल्म में कविता

कुबेर दत्त

19 76 में जब मैं दूरदर्शन-प्रोड्यूसर के रूप में पुणे स्थित फिल्म एवं टेलिविजन संस्थान में ट्रेनिंग ले रहा था तो हमें बेसिक टी.वी. कोर्स के अलावा कुछ और चीजें भी सिखाई गई थीं, मसलन एक डायरेक्टर की दुनिया क्या होती है, उसका अकेलापन, तनाव, रचना-प्रक्रिया, मानसिक दबाव, कार्य-शेड्यूल, अजानी परेशानियाँ? उसके व्यक्तिगत गुण जिनमें धैर्य प्रमुख है, यह सब विस्तार से समझाया गया था। एक फिल्म/ वीडियो डायरेक्टर की मूल कार्य पद्धतियाँ और उसकी दिक्कतें क्या होती हैं, यह सब कुछ फिल्मों के जरिए भी समझाया गया था। इसके अलावा कहानी और कविता के दृश्य-निर्वाह पर भी कुछ विशेष कक्षाएँ आयोजित की गई थीं। एक्सरसाइज करने के क्रम में मुझे भी दो विशेष प्रोडक्शन कोर्स के अलावा करने पड़े थे। ये थे–2 घण्टे की एक फीचर वीडियो और 10 मिनट की एक काव्य-फिल्म जो मुक्तिबोध की कविता 'अन्धेरे में' एक अंश पर बनाई थी। फीचर वीडियो ए.प्रताप (अक्ष्योशेश्वरी प्रताप) की कहानी 'सीलन' पर केन्द्रित थी। ये दोनों प्रोडक्शन अत्यन्त सफल माने गए थे और कई वर्षों तक कई ट्रेनिंग-बैच के सदस्यों को दिखाई जाती रही थीं। दिल्ली लौटकर मैंने अपने उस ज्ञान को परखा था और निराला की दो कविताओं 'वह तोड़ती पत्थर' तथा 'भिक्षुक' पर 16 कि.मी. बनाई थी। पुणे की पढ़ाई के दौरान हमें ज्ञात हो चुका था कि विश्व के कई देशों में कविता-सिनेमा पर अच्छा काम हो रहा है।

मगर आज भी कुछ लोगों को यह नहीं मालूम कि दुनिया के अनेक देशों में पिछले अनेक दशकों से फीचर फिल्मों के अलावा भी फिल्में बनती हैं। मैं वृत्तचित्रों की बात नहीं कर रहा, वह तो सभी को मालूम है। मगर आज भी यह अल्पज्ञात है कि थियेटर, बैले, कला प्रदर्शनियाँ, कविता, नृत्य, संगीत, ध्वनि-प्रभाव आदि पर आधारित फिल्में भी बनती हैं। यों भी, जिस तरह का हमारा कला-जगत है उसमें इन बातों के प्रचार-प्रसार की कोई दुरुस्त व्यवस्था नहीं है। और सामान्य बौद्धिक जीवन इतना जड़ और लुंजपुंज है कि वह 'लिखने-पढ़ने' के दायरे से बाहर झाँकने की न कोई जरूरत महसूस करता है, न यत्न, मगर यह भी सही है कि 'यह समाज हर तरफ से इतना बन्द और घोंघा-प्रवृत्ति वाला भी नहीं है, जिसका एक सुन्दर उदाहरण पिछले दिनों एक बार फिर, दिल्ली में देखने को मिला। यह था 'साधो काव्य फिल्मोत्सव।'

'साधो' एक गैर सरकारी स्वयंसेवी संस्था है जिसे कुछ साहित्यकारों, चित्रकारों, संगीतकारों, पत्रकारों, फिल्मकारों और एनीमेशन-कलाकारों के सामहिक ऊर्जा से चलाया जा रहा है। संस्था का केन्द्रीय उद्देश्य है–कविता को जन-जन से जोड़ना। इसे प्राप्त करने के लिए फिल्म को माध्यम बनाया गया। भारत में इस तरह के सांस्कृतिक आन्दोलन बहुत पुराने नहीं हैं। हालाँकि पिछले कुछ दशकों में इस तरह के कामों में तेजी आई है। पाँचवें दशक में उदयशंकर ने एक अद्भुत, प्रयोगात्मक फिल्म बनाई थी–'कल्पना' चित्रकार हुसेन की फिल्म 'थ्रू दि आइ ऑफ ए पेन्टर' ने बर्लिन का गोल्डन बीयर पुरस्कार प्राप्त किया था। हुसेन के फिल्म निर्देशक का विस्तार उनकी

'गजगामिनी' और 'मीनाक्षी' फिल्मों में देखा जा सकता है। भरतनाट्यम-विदुषी बाला सरस्वती पर 'बाला' शीर्षक से सत्यजित रे की फिल्म आज भी याद की जाती है। रविशंकर पर विश्वस्तरीय फिल्म 'आलाप' मील का पत्थर साबित हुई थी। निर्देशिका थी शुक्ला दास। महान कोरियोग्राफर चन्द्रलेखा के अवदान पर आयन लाल की फिल्म और भरतनाट्यम नर्तकी अलरमेलवल्ली पर अरूण खोखर की फिल्म और मुक्तिबोध के काव्य पर केन्द्रित मणि कौल की फिल्म 'सतह से उठता आदमी', अद्‌भुत फिल्में हैं। हालाँकि मैंने खुद, 'निराला, नागार्जुन, मुक्तिबोध, केदारनाथ अग्रवाल, श्रीकान्त वर्मा और साहिर लुधियानवी की रचनाओं पर कई फिल्में बनाई और अपने अनुभव से भी कह सकता हूँ कि कविता के अनेक पाठों को समझने का यह अनूठा अनुभव था। सुब्रहमण्यम भारती और नजरूल तथा रवीन्द्रनाथ टैगोर की रचनाओं पर भी प्रयोगात्मक फिल्में बनी हैं। निर्देशक कुमार शाहणे भी ऐसी फिल्मों के निर्माण के लिए जाने जाते हैं। जाहिर है यह सब व्यावसायिक गोरखधन्धेबाजों के लिए कोई मायने नहीं रखता लेकिन उनके लिए रखता है, जो मायने के मायने जानते हैं। मैंने पिछले दिनों छात्रों और बच्चों के द्वारा बनाई गई 30-35 ऐसी फिल्में देखी हैं जो हर मायने में 'मेच्योर सिनेमा' है।

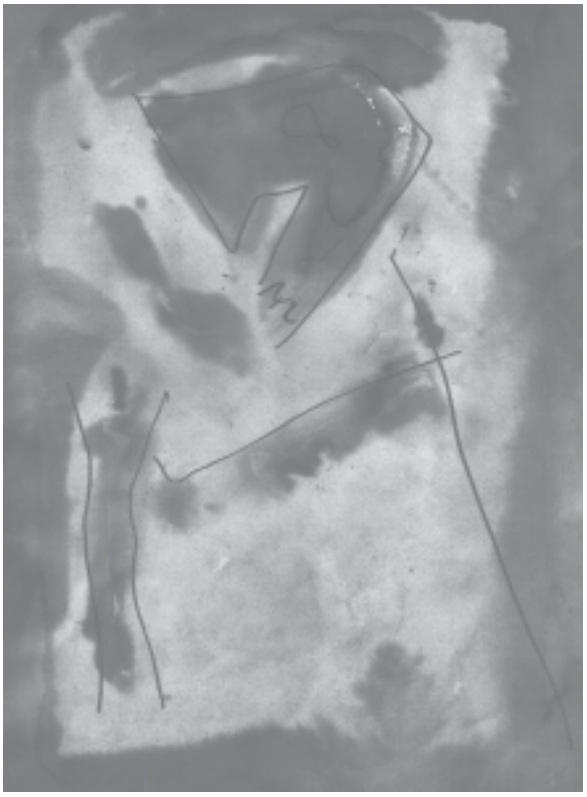

26 और 27 दिसम्बर को दिखाई गई काव्याधारित फिल्मों के प्रक्षेपण से यह एकदम साफ है कि ये फिल्में कविता का मात्र दृश्यात्मक नरेशन नहीं है बल्कि कविता में अन्तर्निहित और व्याप्त उन संवेदनाओं को दर्शक के सामने लाना है जो कई बार 'पाठ' के स्तर पर अलक्षित रह जाती है। जिस तरह कोई काव्य-रचना संगीत से जुड़कर नई अर्थ-प्रतीति कराती है, कविता पर आधारित या कविता से उत्प्रेरित रचना जब फिल्म का स्वरूप लेती हे तो वह एक स्वतन्त्र रचना का रूप भी ले लेती है। वह परदे पर उभरा मात्र तकनीकी मेल नहीं है। इसीलिए यह 'विधा' कम, 'अन्तर्वस्तु का प्रकटीकरण' अधिक है। डॉक्यूमेंट्री के जनक जॉर्ज ग्रिफिथ तक यह कहते हैं कि तमाम परिभाषाओं और व्याख्याओं के बावजूद डॉक्यूमेन्ट्री सिर्फ वही नहीं होती, जो कोर्स की किताबों में दर्ज है। हर निर्देशक अपने वृत्तचित्र का मुहावरा खुद गढ़ता है। शास्त्र केवल प्रारम्भिक मदद तक ही सीमित है। काव्य का मर्म समझने का जितना दावा आलोचक करता है, उससे अधिक वह पाठक के पास होता है जिसके यहाँ आलोचना की भाषा नहीं पर संवेदना की भाषा अधिक सक्रिय होती है। दर्शक की भी स्थिति यही है। 'साधो' द्वारा आयोजित काव्य-फिल्मोत्सव की फिल्में देखकर लगता है कि मानव मन, मस्तिष्क और मनुष्य को सृजनात्मक आकाश गंगा में अपरिमित सम्भावनाएँ मौजूद हैं जहाँ तकनीक महज एक उपकरण है। एक औजार मात्र याद रहे कि संगीत केवल वाद्ययन्त्रों से ही नहीं बनता, उनके अभाव में वह टूटे-फूटे बर्तन भाँडों और लकड़ी-खपच्चियों से भी बनता है, और पंछियों की आवाजों से भी। सत्यजित रे, ऋत्विक घटक और ब.व.कारंत ने यह किया है। तकनीकी अपने आप में महत्त्वपूर्ण है पर जब तक उसे बरतने का एक संवेदनशील दिल-दिमाग न हो तो वह एक साधन मात्र है, जड़ और मृत।

'साधो' ने एन.सी.ई.आर.टी. की ही तरह विद्यार्थियों को फिल्म-निर्माण-निर्देशन के क्षेत्र में प्रोत्साहित किया। बल्कि एक कदम आगे बढ़कर उन बच्चों को भी फिल्म निर्माण के लिए प्रेरित किया जो साधनहीन हैं। न केवल फिल्मों का निर्माण बल्कि उन फिल्मों का गाँवों और शहरों में प्रक्षेपण। 'साधो' ने अप्रशिक्षित बच्चों से ही फिल्में नहीं बनवाई बल्कि अनुभवी फिल्मकारों को भी खुद से जोड़ा जिन्होंने मानीखेज काव्य-फिल्मों का निर्माण किया। 'साधो' एक वास्तविक जनान्दोलन चला रहा है जिसके पीछे पूँजीवादी राजनीति की कोई छाया तक नहीं है। कला-जगत में यह एक बड़ा काम है।

'साधो' के इस काव्य-फिल्मोत्सव में चार महादेशों की 45 फिल्में प्रदर्शित की गईं जिन्हें भारत के नगरों-कस्बों-गाँवों में प्रक्षेपित करने की कारगर योजना है। इस संस्था ने केवल अपनी ही फिल्में नहीं दिखाई बल्कि, यूरोप, कनाडा, अमरीका और अर्जेन्टीना में बनी काव्य-फिल्मों को भी। 'साधो' की काव्य फिल्में भी अन्य देशों में प्रदर्शित की गई हैं। एक तरफ विकराल पूँजी-संजाल जहाँ जनता की परिष्कृत कला-रुचियों और सांस्कृतिक विरासत पर हमले कर रहा है, 'साधो' उन हमलों को नाकाम करने की राह में तनकर खड़ा है।

जनपद में सिनेमा

एक जमाने में हरियाणा को 'गोबरपट्टी' से ज्यादा कुछ जाना नहीं जाता था लेकिन राज्य-निर्माण के कुछ वर्षों बाद से हरियाणा में अनेक स्तरों पर बदलाव आए। शिक्षा का प्रसार बढ़ा। हरित क्रान्ति हुई। औद्योगिक विकास के नए आयाम कायम हुए। खेती के अलावा हरियाणा ने पर्यटन के क्षेत्र में भी अभूतपूर्व तरक्की की। तकनीकी क्षेत्रों में नए रिकॉर्ड कायम हुए और खेलजगत में भी हरियाणा ने अपने परचम लहराए। पारम्परिक कलाओं में हरियाणा पहले ही समृद्ध था। सामाजिक-राजनैतिक क्षेत्रों में भी उसने अलग पहचान बनाई। डेयरी उद्योग, बिजली उत्पादन, चीनी उद्योग और विज्ञान के क्षेत्र में भी वह तेजी से साथ आगे बढ़ा।

कला-संस्कृति-साहित्य के स्तर पर भी

हरियाणा ने अपनी पहचान बनाई। उसने राष्ट्रीय स्तर के खिलाड़ी, कलाकार, शिक्षक, वैज्ञानिक, पत्रकार और संस्कृतिकर्मी दिए। गैरसरकारी क्षेत्रों में भी अभूतपूर्व कार्य हुए। हरियाणा के बाबा रामदेव ने योग की अलख विश्वभर में जगाई। हरियाणा की कल्पना चावला को कौन भूल सकता है? लेखक और पुलिस अधिकारी विकासनारायण राय ने हरियाणा में साहित्य-संस्कृति के प्रसार में अभूतपूर्व कार्य किया। उनके द्वारा स्थापित पुस्तकालयों की शृंखला को बहुत सम्मान मिला। सस्ते दामों पर पुस्तकें मुहैया कराने में भी विकास नारायण राय की संस्थाओं ने अग्रणी भूमिका अदा की। नाट्य-लेखन-प्रदर्शन में भी उन्होंने नए कीर्तिमान गढ़े।

इसी हरियाणा की सांस्कृतिक उठान के मद्देनजर 24 से 30 दिसम्बर 09 को यमुनानगर में दूसरा अन्तरराष्ट्रीय फिल्म समारोह सम्पन्न हुआ, जिसमें 20 खण्डों में 25 देशों की 70 फिल्में दिखाई गईं। भारतीय फिल्म और टेलिविजन संस्थान, पुणे और भारतीय राष्ट्रीय फिल्म अभिलेखागार, पुणे के सहयोग से 25 से 29 दिसम्बर 09 को फिल्म एप्रिसिएशन कोर्स भी आयोजित किया गया। विश्व सिनेमा को ध्यान में रखकर क्षेत्रीय सिनेमा पर दो दिन की विचारगोष्ठी हुई। पंजाबी और हरियाणवी सिनेमा की चुनौतियों पर भी एक सत्र केन्द्रित था। एक महत्त्वपूर्ण सत्र में 'कट्टरता और युद्ध' विषय पर गम्भीर विचार-विमर्श हुआ। 'अप्रवासी सिनेमा' खण्ड में गुरिन्दर चड्ढा और निखिल कौशिक की फिल्मों का प्रदर्शन हुआ। नोबेल पुरस्कार प्राप्त रचनाकार की कृतियों पर बनी फिल्मों का विशेष प्रदर्शन हुआ जिनमें हेमिंग्वे की 'द ओल्ड मेन एण्ड द सी (जॉन स्टरगेस) और जर्मन लेखक 'ग्युंटर ग्रास' की कृति पर निर्मित 'टिन ड्रम' प्रमुख थीं। इन फिल्मों पर गम्भीर चर्चा हुई। मार्शल आर्ट और पर्यावरण विषयक फिल्मों का भी एक खण्ड था 'कट्टरता और युद्ध' खण्ड का उद्घाटन रंगकर्मी और अभिनेता एम.के.रैना ने किया। इस खण्ड में बांग्लादेश की फिल्म 'माटीर मैना' (नितारिक मसूद), बोस्निया की फिल्म 'मैन्स लैन्ड' (निर्दे. डेनिस तानोविक), पाकिस्तान की फिल्म 'खुदा के लिए' (निर्दे. शोएब मंसूर) और 'द ग्रेट डिक्टेटर' (चार्ली चैपलिन) स्क्रीन हुईं।

'साहित्य और सिनेमा' खण्ड का संचालन जाने माने फिल्मकार गिरीश कासरवल्ली ने किया। ज्ञातव्य है कि उनकी प्रसिद्ध फिल्म थी–'घटश्राद्ध', जो यू.आर. अनन्तमूर्ति की रचना पर आधारित थी। इस मौके पर कासरवल्ली ने कहा–''साहित्य पढ़ा जाता है, जबकि सिनेमा अनुभव किया जाता है।''

कवि-आलोचक और ललित कला अकादमी के अध्यक्ष अशोक वाजपेयी ने 'सिनेमा में कला का उत्सव' खण्ड प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा–'भारत में, सिनेमा को एक कला माध्यम के रूप में अभी ठीक से मान्यता नहीं मिली, जो दुखद है जबकि सिनेमा कला के अभिलेखन और संरक्षण में गम्भीर भूमिका निबाह सकता है। उदाहरण के लिए उन्होंने हुसेन द्वारा निर्मित फिल्मों का जिक्र किया। इस खण्ड की शुरुआत हुसेन की फिल्म 'मीनाक्षी–टेल ऑफ थ्री सिटीज' से हुई।

इस यादगार फिल्मोत्सव में 250 छात्र-छात्राओं ने भी हिस्सा लिया। यह उनके लिए पहला मौका था जब उन्होंने अडूर गोपालकृष्णन, गिरीश कासरवल्ली, सत्यजित राय, ऋत्विक घटक, विटोरियो दे सिका, आर्सन वेल्स, बर्गमान, अकीरा कुरोसावा, गोदार आदि विश्व विख्यात निर्देशकों की फिल्में देखीं।

इसी उत्सव में पाँच फिल्मों का प्रीमियर भी आयोजित किया गया। इनके निर्देशकों ने दर्शकों से संवाद भी किया। ये फिल्में भीं–'चिंटू जी' (निर्दे. रंजीत कपूर), 'अ टीम ऑफ डार्क नाइट' (निर्दे. अनवर जमाल), 'वह सुबह किधर गई' (निर्दे. त्रिपुरारी शरण), 'खरगोश' और 'जॉनी जॉनी यस पापा' (निर्दे. परेश कामदार)। इसी सत्र में अडूर गोपाल कृष्णन की फिल्म 'फोर वुमेन' और गिरीश कारसवल्ली की फिल्म 'गुलाबी टाकीज' पर विशेष बातचीत भी हुई।

'फोकस कंट्री' नाम से भी एक विशेष खण्ड था जिसमें ईरान, पाकिस्तान और चीन की फिल्मों का प्रदर्शन हुआ।

कई सत्रों में महत्त्वपूर्ण संवाद हुए। जनसत्ता के संपादक ओम थानवी ने पोलिश फिल्म 'अ शार्ट फिल्म अबाउट किलिंग' (निर्दे. किस्लावस्की) और फिल्म 'बावेल' (निर्दे. अलेजांद्रो गोंजालेज इनारित) की अंतर्वस्तु और कला-प्रविधियों पर अपने विचार रखे। 'फेडरेशन ऑफ दि फिल्म सोसायटीज ऑफ इंडिया' के सचिव यू. राधाकृष्णन् ने सिनेमा आन्दोलनों के इतिहास पर रोशनी डाली। इस मौके पर हरियाणा में जन्मे अभिनेता यशपाल शर्मा ने अपने संघर्ष के दिनों को साँझा किया। इस मौके पर 'फिल्म एंड टी.वी. इंस्टीट्यूट ऑफ इण्डिया' के निदेशक पंकज राग ने पिछले 100 वर्षों के फिल्म संगीत पर चर्चा की। उन्होंने बताया कि हाल के वर्षों में हरियाणा से अनेक प्रतिभाएँ इंस्टीट्यूट में अध्ययन करने हेतु आईं।

इस फिल्मोत्सव का शुभारम्भ अफगानिस्तान के सिद्दीक बर्मक की चर्चित फिल्म 'ओसामा' से और समापन ईरान के माजिद मजीदी की ताजा फिल्म 'सॉंग ऑफ स्पैरो' से हुआ।

दूरदर्शन का पहला अभिलेखागार सप्ताह

दूरदर्शन का यह स्वर्ण जयंती वर्ष है। इस उपलक्ष्य में वर्ष भर अनेक आयोजन होते हैं। कुछ हुए हैं, कुछ होंगे जैसे कि 15 सितम्बर 09 को एक भव्य सजीव प्रसारण हुआ था जिसमें दूरदर्शन यात्रा पर एक विशेष वृत्तचित्र भी दिखाया गया था। इन दिनों हर शनिवार दोपहर 2 बजे राष्ट्रीय चैनल पर एक कार्यक्रम-शृंखला पर प्रसारित हो रही है–'दूरदर्शन : उषा काल'। इसके तहत दूरदर्शन के प्रारम्भिक वर्षों में विभिन्न क्षेत्रों में कार्यरत विशेषज्ञों (लेखक, प्रसारक, स्क्रिप्ट राइटर, प्रोड्यूसर, इंजीनियर, कलाकार, प्रशासक, छायाकार, संपादक आदि) के साथ बातचीत दिखाई जा रही है, जिसके जरिए हमारे सामने दूरदर्शन की प्रारम्भिक तस्वीर ऐतिहासिक तथ्यों के साथ आती है। अब तक जिन महानुभावों के साथ बातचीत प्रसारित हो चुकी है उनमें से कुछ के नाम हैं–विष्णु प्रभाकर, पी.एल.देशपाण्डे, रमेश चन्दर, गंगाधर शुक्ल, वी.जे.मुले, पी.वी. कृष्णमूर्ति, शिव एस. शर्मा, रेवती शरन शर्मा, मधु मालती आदि। यह सिलसिला भी वर्षभर चलेगा। इस क्रम में मैंने भी 12 हफ्ते 'दूरदर्शन-गाथा' नाम से 50 वर्षों के सफर

पर आधारित वृत्त कार्यक्रम प्रसारित किए।

इस बीच दूरदर्शन के केन्द्रीय आर्काइव ने 'आर्काइव सप्ताह' का विशद आयोजन किया जो अभूतपूर्व था। इसका एक बहुत बड़ा मकसद था। मकसद यह था कि दूरदर्शन आर्काइव ने, जो अब तक डेढ़ लाख घण्टे की महत्त्वपूर्ण रिकॉर्डिंग बड़े जतन से संरक्षित की है, और जिनका डिजिटलीकरण हो रहा है, जिन्हें विभिन्न श्रेणियों में बाँटा गया है और जिन्हें यान्त्रिक प्रक्रियाओं से गुजरने के बाद अगले 100 वर्ष तक मीडिया एसेट मैनेजमेन्ट सिस्टम में, जो टेपरहित डिवाइस है और जिसमें केवल स्मृति-आगार है, सुरक्षित रखा जाना है और इस सामग्री का जो विस्तारित मेटाडाटा तैयार किया गया है यानी इस तरह का, अपनी किस्म का वीडियो थिसॉरस, उसे विशेषज्ञों द्वारा परखे जाने के बाद श्रेणीबद्ध अन्तिम रूप दिया जाएगा।

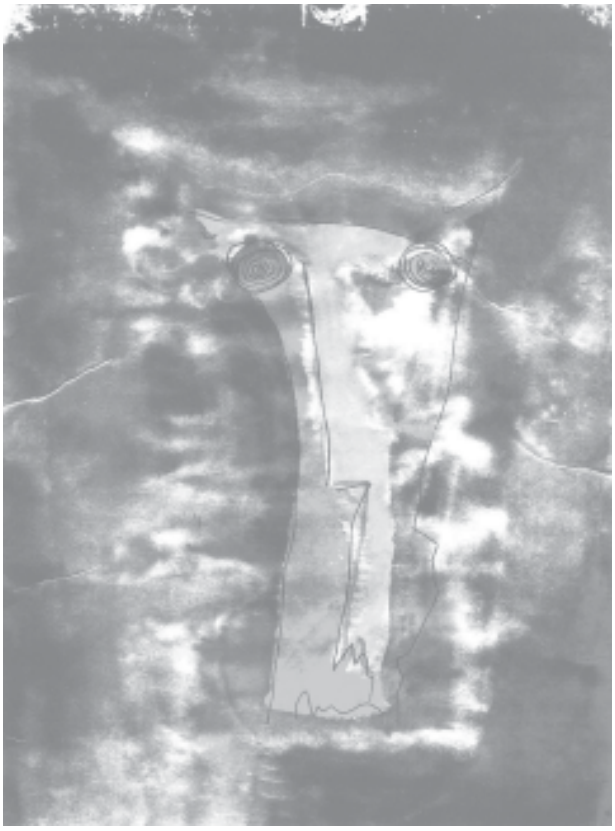

1 से 3 दिसम्बर तक तकनीकी विशेषज्ञों के सत्र थे जिसमें राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय स्तर के वे विशेषज्ञ थे जो वीडियो अभिलेखीकरण की विभिन्न प्रविधियों और शास्त्र के गहरे जानकार थे। सॉफ्टवेयर को डिजिटाइजेशन के पहले विभिन्न सरणियों से गुजरना होता है।

शेष सत्रों में विभिन्न क्षेत्रों के विशेषज्ञों ने आर्काइव की ढाँचागत व्यवस्था और कार्यप्रणालियों पर सन्तोष व्यक्त किया और उसके अन्तरराष्ट्रीय स्वरूप का स्वागत किया। अशोक वाजपेयी ने वीडिओ आर्ट, ग्राफिककला और फोटोग्राफी कला को भी श्रेणीबद्ध करने की सलाह दी। के.बिक्रम सिंह ने सुझाया कि आर्काइव को अपनी पुरानी सामग्री में से वे ध्वनियाँ भी छाँटनी चाहिए जो अब लुप्त होती जा रही हैं, जैसे चाँदनी चौक की पुरानी गलियों की वातावरण ध्वनियाँ, कस्बों की, उसके मेले-ठेले की ध्वनियाँ, रहट व कोल्हू की ध्वनियाँ, गा-गाकर सब्जी बेचने वाले कुंजड़ों की ध्वनियाँ, मदारियों-मजमेबाजों की ध्वनियाँ, लुप्त होते पंछियों की ध्वनियाँ, लुप्तप्राय जनजातियों के तीज-त्यौहारों की ध्वनियाँ, लोहार, बढ़ई, तेली, धुनियों, खद्दर बनते जुलाहों की ध्वनियाँ, पुराने स्वांगों, नौटंकियों की ध्वनियाँ, फेरीवालों की ध्वनियाँ, पुराने–प्रयोग से बाहर जा रहे खिलौनों की ध्वनियाँ आदि। एक सुझाव यह भी आया कि पुराने नाटकों की कास्ट्यूम के छायाचित्रों के अलबम भी तैयार हो सकते हैं।

इस मौके पर केन्द्रीय आर्काइव की महानिदेशक अरुणा शर्मा ने कहा–दूरदर्शन आर्काइव खुद में एक धरोहर है और इसे सम्भालने वाले कर्मियों की भरपूर मदद की जाएगी। दूरदर्शन-आर्काइव आज हमारे टॉप एजेन्डे में है। दूरदर्शन-आर्काइव की निदेशक कमलिनी दत्त ने अपने अनुभव साँझे करते हुए कहा कि काम लम्बा और निरन्तर है। लाखों घण्टों की रिकॉर्डिंग डिजिटाइज होनी है और तकनीक की विश्व-रफ्तार को छूने के लिए काम में और तेजी लाई जाएगी। उनका कहना था कि आर्काइव के व्याकरण के अनुसार जिससे लोग 'फालतू' समझ सकते हैं, वह हमारे लिए सुवर्ण है। उन्होंने यह, भी कहा कि आज की रिकॉर्डिंग कल का आर्काइव है।

1962 में दूरदर्शन को पहला 2 इंची एम्पेक्स रिकॉर्डर मिला। तब से लेकर बाद के उस वक्त में जब टेप तकनीक कैसेट तकनीक में बदली, लाखों घण्टों की रिकॉर्डिंग हुई जिसमें से काफी कुछ नष्ट हो गई मगर काफी कुछ बचा ली गई। 2004 में दूरदर्शन आर्काइव को 'मीडिया एसेट मैनेजमेन्ट सोल्यूशन' मिला जो और किसी अन्य चैनल के पास नहीं है। इसके जरिए एनोलॉग रिकॉर्डिंग को हमेशा के लिए डिजिटाइज किया जा रहा है। करीब 40 वर्षों की बेशकीमती सामग्री का परिष्कारीकरण एक बड़ा काम है। सभी पुरानी रिकॉर्डिंग मशीनों का लगातार दुरुस्त रहना और रिकॉर्डिंग को डी.वी.सी. प्रो फॉरमेट में लाना एक श्रमसाध्य काम है जो मेहतनी, कुशल, प्रतिबद्ध इंजीनियर की देखरेख में हो रहा है–हर दिन दो-तीन शिफ्टों में। अन्ततः सारी सामग्री डिजिटाइज होकर टेपरहित 'स्मृति बैंक' में सुरक्षित की जा रही हैं।

दूरदर्शन के आज 62 प्रोग्राम जेनरेटिंग केन्द्र हैं। जहाँ से नई-पुरानी सामग्री केन्द्रीय आर्काइव पहुँच रही है। करीब डेढ़ लाख घण्टों की सामग्री डिजिटाइज हो रही है। विश्व में इतने व्यापक स्तर पर आर्काइविंग प्रक्रिया और कहीं नहीं चल रही है।

'भारत एक खोज' भी डी वी डी फॉरमेट में उपलब्ध है। और उसे सस्ते दामों पर बेचने की तैयारी चल रही है। देश-विदेश के विश्वविद्यालयों के कम-से-कम हिंदी विभाग यदि दूरदर्शन के केन्द्रीय आर्काइव से सम्पर्क साधें तो उन्हें बहुमूल्य सामग्री उपलब्ध हो सकती है, जिसकी कल्पना भी मुश्किल है।

बहरहाल दूरदर्शन का केन्द्रीय आर्काइव राष्ट्रीय संस्कृति की एक बड़ी जीवंत सम्पदा है, जो भारत की बहुमुखी-बहुरंगी सम्पदाओं के परिष्कार, संरक्षण और विकास-प्रसार में वास्तविक और ऐतिहासिक काम कर रहा है–बिना किसी शोर, विज्ञापन या प्रचार के।

159, आकाश दर्शन अपार्टमेंट्स, मयूर विहार, फेज-I दिल्ली-110091, मो. 09868240906

साहित्य कोलाहल

प्रज्ञाचक्षु

साहित्य की दुनिया भी अजीबो-गरीब है। पता नहीं चलता कब कौन लेखक कब्र से उठकर साहित्य के मुहाने पर दस्तक देगा। पिछले दिनों बिहार सरकार को अंग्रेजी लेखक जार्ज ऑरवेल की अचानक याद आई और सरकार ने उनका जन्म स्थान ढूँढ़ लिया। बिहार के पूर्वी चंपारण के मोतिहारी में। अब

सरकार उनके घर को संरक्षित करने के लिए प्रयासरत है। बहुत कम लोगों को मालूम होगा कि ऑरवेल के पिता ब्रिटिश सरकार के अधीन सेवारत थे और मोतिहारी में नील ऑफिसर थे। जॉर्ज ऑरवेल ने 'एनिमल फार्म', 1984 और बर्मीज डायरी जैसी पुस्तकें लिखीं। ऑरवेल पर ब्रिटिश सरकार ने उनके कम्युनिस्ट होने के संदिग्ध आरोप के कारण उनके खिलाफ जासूसी की थी।

हिंदी में इन दिनों लोकार्पण और पुरस्कार की धूम मची हुई है। ऐसा लगता है कि यदि किसी लेखक या लेखिका की पुस्तक लोकार्पित नहीं हुई या उसे पुरस्कार नहीं मिला तो उसका जीवन अकारथ चला जाएगा। पहले धनपति धर्मार्थ का काम–कुँआ, सराय, धर्मशाला और अस्पताल बना करके अपने प्रियजनों को अमर करते थे अब उनके नाम पर पुरस्कार देकर। और पुरस्कृत लेखक बिना यह जाने कि किसके नाम पर पुरस्कार दिया जा रहा है, गद्-गद् भाव से उसे ग्रहण करके अपने को धन्य समझता है।

17 दिसम्बर 2009 को नई दिल्ली के

त्रिवेणी सभागार में 2009 का मीरा (अग्रवाल) स्मृति पुरस्कार मीरा फाउंडेशन और साहित्य भंडार, इलाहाबाद की ओर से युवा कहानीकार पंकज मित्र को उनके कहानी संग्रह हुड्डकलुल्लु के लिए दिया गया। समारोह के अध्यक्ष सुप्रसिद्ध कहानीकार काशीनाथ सिंह ने कहा कि पंकज कहानीकार के रूप में रेणु की विरासत के संवाहक माने जा सकते हैं। पंकज की कहानियों में पूरी जनपदीय भाषा का ऐसा स्वरूप दिखाई पड़ता है जो उन्हें समकालीन कथाकारों से पृथक् करता है। मुख्य अतिथि प्रतिष्ठित कथाकार शेखर जोशी ने इस बात पर चिन्ता व्यक्त की कि समाज में सब कुछ खराब ही नहीं है। वस्तुतः कहानी में जो कुछ भी वर्णित किया जा रहा है उससे इस बात का खतरा हो रहा है कि लोग निराशा के दलदल में फँस सकते हैं। हमें इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि कहानी का एक बड़ा पाठक वह भी है जो समाज को एक बेहतर समाज के रूप में बदलना देखना चाहता है। इस अवसर पर पंकज मित्र ने भी अपनी रचना प्रक्रिया पर प्रकाश डाला। निर्णायक मंडल की ओर से वरिष्ठ कथाकार ममता कालिया ने कहा कि रचना के दो पड़ाव होते हैं एक वह जब रचना पूरी होती है तथा दूसरी वह जब रचना पाठक के हृदय को स्पंदित करती है। कार्यक्रम का संचालन दूरदर्शन के वरिष्ठ निदेशक डॉ. अशोक त्रिपाठी ने किया।

सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली से प्रकाशित वरिष्ठ लेखिका मृदुला गर्ग के नए उपन्यास 'मिलजुल मन' के लोकार्पण के अवसर पर प्रख्यात कथाकार और 'हंस' के संपादक राजेन्द्र यादव ने कहा कि पहले स्त्रियां पुरुषों के लिए कथा, कहानी लिखती थीं, ताकि वह पढ़कर उसे सराहें। अब स्त्री की दृष्टि से स्त्रियों के बारे में उपन्यास लिखा जा रहा है। मृदुला गर्ग का उपन्यास ऐसी ही रचना है। समारोह की मुख्य अतिथि वरिष्ठ आलोचक प्रो. निर्मला जैन ने इसे सहज और पठनीय उपन्यास बनाया। विशिष्ट अतिथि वरिष्ठ कथाकार डॉ. विजयमोहन सिंह ने इसे बड़े स्ट्रोक का उपन्यास बताया। लोकार्पण समारोह में वरिष्ठ लेखकों की भारी उपस्थिति थी।

❑

शमशेर की जन्म शताब्दी की याद इस नए वर्ष में सबसे पहले कवि-आलोचक और कला मर्मज्ञ अशोक वाजपेयी ने दिलाई। 'जनसत्ता' के अपने स्तंभ 'कभी-कभार' से ही नहीं, बल्कि रजा फाउंडेशन की ओर से 14 जनवरी को आयोजित समारोह में उनकी तेरह कविताओं की रिकार्डिंग प्रस्तुत करके। रजा फाउंडेशन और एकत्र कला कविता केन्द्र की ओर से इंडिया इंटरनेशनल सेंटर एनेक्स में प्रसिद्ध चित्रकार सैयद हैदर रजा ने शमशेर को पीले गुलदाऊदी से पुष्पांजलि दी। शमशेर हमारे समय के एक बड़े कवि थे। उनकी कविताएँ–

लेकर सीधा नारा, एक नीला आईना, टूटी हुई बिखरी हुई, एक नीला दरिया बरस रहा, एक पीली शाम और लौट आ, ओ धार–हिंदी कविता की प्राणधारा है। बेशक, शमशेर पर अशोक वाजपेयी ने 'पूर्वग्रह' के अंक केन्द्रित किए थे, लेकिन फिर शमशेर उनको देर से याद आए। उन पर पहले संचयिता नहीं निकाली।

लेकिन शमशेर की जन्म शताब्दी का आरम्भ उनके नाम पर कलामर्मज्ञ शरद दत्त और कवि मदन कश्यप को पुरस्कार दिए जाने की घोषणा के साथ दिल्ली के मोहन सिंह प्लेस कॉफी हाउस में कुछ युवा कथाकारों द्वारा आयोजित गोष्ठी 'शमशेर हमारे' से भी हुआ जहाँ उनकी कविताओं का पाठ हुआ और जिसमें पंकज बिष्ठ, पंकज सिंह, मदन कश्यप, अच्युतानंद मिश्र, कुमार मुकुल, रामजी यादव, अंजनि कुमार, धर्मेन्द्र सुशांत की सहभागिता थी।

❑

1857 के विद्रोह के बाद या पूर्व हिन्दुस्तान में पुर्नजागरण और नवजागरण हुए लेकिन आजादी मिलने के बाद जब छठे दशक में हमने साहित्य अकादमी, ललित कला अकादमी और संगीत नाटक अकादमी के बाद 1958 में नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया की स्थापना की, असली साहित्यिक-सांस्कृतिक जागरण हुआ। बल्कि कहना चाहिए हम विश्व साहित्य के बौद्धिक संपर्क में आए। भारत सरकार का पब्लिकेशंस डिवीजन स्वतंत्रतापूर्व स्थापित हुआ था, जहाँ से 'आजकल' (मासिक) हिंदी और उर्दू में निकल रही थी। तीनों अकादमियों की स्थापना से साहित्य, ललित कला और संगीत-नाटक के पंख खुल रहे थे। लेकिन नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया की स्थापना एक बड़े उद्देश्य से की गई थी। 'हंस' संपादक राजेन्द्र यदव ने मुझे यह गलत सूचना दी कि विश्व पुस्तक मेला आयोजित करने की परिकल्पना अरविन्द कुमार की थी। नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया से गहराई से जुड़ीं वर्षा दत्त ने मुझे एक बातचीत में बताया कि दरअसल यह परिकल्पना ट्रस्ट के तत्कालीन अध्यक्ष (1972) बी.वी.केसकर की थी। पहला विश्व पुस्तक मेला 1972 में जनपथ के इंपीरियल होटल के बाहर शामियाना लगाकर आयोजित किया था। बेशक, हमने अब तक विश्व पुस्तक मेला आयोजित करके लम्बी दूरी तय की है लेकिन जरूरत इस बात की है कि मेला के अवसर पर भारतीय भाषाओं की एक शताब्दी में प्रकाशित उत्कृष्ट रचनाओं का एक प्रदर्शनी आयोजि हो ताकि अब तक हम अपनी उपलब्धियों का सम्यक मूल्यांकन कर सकें।

❑

गणतंत्र दिवस पर लाल किला में कवि सम्मेलन आयोजित करने की शानदार पुरानी परम्परा रही है। लेकिन दशकों बाद यह कवि सम्मेलन हास्य कवियों का प्रहसन बनकर रह गया। जनवादी आलोचक प्रो. चंद्रबली सिंह ने 'जनमत' के 9 अप्रैल 1950 अंक में शिवमंगल सिंह 'सुमन' के नाम एक खुली चिट्ठी में लिखा था–'लाल किले में जब तुम कवि सम्मेलन में भाग लेने के लिए गए तो तुमने अपने चारों ओर बैठे कवियों को पहचाना तो होगा ही। क्या तुमने यह नहीं देखा कि वहाँ औरों के अतिरिक्त भगवतीचरण वर्मा और बच्चन आसन जमाए हुए थे। बल्कि कवि होने के नाते इतनी कल्पना तो तुमने घर बैठे-बैठे ही कर ली होगी कि वहाँ कौन-कौन लोग हाजिर होंगे। फिर तुमने वहाँ जाने की कैसे सोची? तुम 'नई आग' के कवि और भगवतीचरण वर्मा शराब के नशे में अहिंसा का बरसाती गीत गाने वाले कवि! यह आग और पानी का साथ कैसा? शायद यह सोना-चांदी खेल है। लेकिन आग तो बुझ गई। तुम जानते नहीं कि जिन कवियों की मंडली में बैठकर तुमने अपनी कविताएं सुनाईं आज उन कवियों की अवसरवादिता उनकी मक्कारी और उनके पतन की कहानी हिंदी के साधारण-से-साधारण पाठक से छिपी हुई नहीं है।' (आलोचना का जनपक्ष, पृ. 415)

अभी फिर शनिवार, 16 जनवरी 2010, हिंदी अकादमी, दिल्ली की ओर से लालकिला में कवि सम्मेलन आयोजित हुआ। हमें यह देखकर हैरानी हुई कि न केवल इस सम्मेलन की प्रकृति, बल्कि चरित्र भी बदल गया है। वैसे इस सम्मेलन में कुछ और कवि भी थे, नीरज अस्वस्थता के कारण नहीं आ पाए थे लेकिन इस कवि सम्मेलन में शामिल जयप्रकाश धूमकेतु, यश मालवीय, सदानंद साही, सुभाष शर्मा और स्वप्निल श्रीवास्तव जैसे नए कवियों से चमक आई, उसका हमें ठीक से पता नहीं।

❑

साहित्य संसार में भूमंडलीकरण के पहले उत्तर-आधुनिकता की आहट थी। साहित्य अकादेमी भारतीय भाषाओं की सर्वश्रेष्ठ स्वायत्त संस्था है। लेकिन इधर जिस तरह संस्कृति विभाग, भारत सरकार ने आधुनिक कारपोरेट संसार के एक बड़े निवेशी सेमसंग इंडिया को साहित्य अकादेमी के पुरस्कारों में दखल देने की अनुमति दी है, चिंताजनक है। 25 जनवरी, 2010 को सैमसंग की ओर से आठ भारतीय भाषाओं के लेखक पहले टैगोर साहित्य पुरस्कार से सम्मानित किए जाएँगे। 25 जनवरी, 2010 को होटल के बॉलरूम में संपूर्ण हिंदी लेखक समाज के विरोध और जसम और सहमत के प्रदर्शन के बावजूद हिंदी में राजीसेठ को उनके कहानीसंग्रह 'ग़मे हयात ने मारा' यह पुरस्कार दिया गया।

❑

सुदूर पूर्वांचल आजमगढ़ जिला के एक गाँव में स्थित श्री रामानंद सरस्वती पुस्तकालय, जोकहरा में पिछले दिनों एक दिवसीय गोष्ठी आयोजित की गई–'हिंदी और भोजपुरी : विरोध और साहचर्य' पर। यह गोष्ठी न केवल बेहद विचारोत्तेजक थी बल्कि एक सत्र में कवि उपेन्द्र कुमार ने अपना वक्तव्य खालिस भोजपुरी में देकर श्रोताओं को चौंका दिया। अरुणेश नीरन ने कहा कि प्रतिरोध की भाषा है भोजपुरी। अन्य वक्ताओं ने भोजपुरी भाषा के इतिहास को ठीक से सामने लाया। इस गोष्ठी की यह बड़ी उपलब्धि थी कि हमने भोजपुरी भाषा की प्रकृति, चरित्र ही नहीं, उसके अब तक के लेखन पर भी गंभीरता से विचार किया।

❑

यदि महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय का इलाहाबाद केन्द्र सबसे सक्रिय है तो इसका श्रेय वहाँ के निदेशक डॉ. संतोष भदौरिया को दिया जाना चाहिए। पिछले दिनों आचार्य शुक्ल की 125 वीं जयंती पर आयोजित कार्यक्रम की उपलब्धि यह है कि इस संगोष्ठी में आचार्य शुक्ल के अवदान पर गंभीर विचार-विमर्श हुआ। कुलपति विभूति नारायण राय के बाद प्रो. गोपेश्वर सिंह, नीलकांत, भारत भारद्वाज ने भी शुक्ल जी के साहित्य पर गंभीर चर्चा की।

प्रतिध्वनि

पत्र-प्रतिक्रिया

पुस्तक-वार्ता सितम्बर-अक्तूबर '09 अंक हेतु अत्यन्त धन्यवाद। नामकरण सार्थक, भावपूर्ण आवरण, स्तरीय पुस्तकों की सूचना-समीक्षात्मक लेखों के रूप में लेखक-कवि संसार के आभास के साथ-साथ पाठकों में पढ़ने की जिज्ञासा उत्पन्न करती है।

–एम.एल.भटनागर, कोटा

पुस्तक-वार्ता का सितम्बर-अक्तूबर अंक यथासमय मिल गया था। प्रतिक्रिया भेजने में कुछ विलंब हो गया, कुछ पारिवारिक व्यस्तताओं के कारण। बहरहाल, पहले तो आपको इस बाद के लिए धन्यवाद देना चाहती हूं कि 'मैं और पुस्तकें' स्तंभ में आपने मेरे आलेख को यथावत् (ज्यों-का-त्यों) प्रकाशित किया। अक्सर संपादक अपने संपादकीय अधिकारों के हवाले से रचनाओं के साथ छेड़छाड़ करने से बाज नहीं आते। आपने ऐसा न करके नैतिकता का निर्वाह किया, आभारी हूं।

आपने अपने संपादकीय में आचार्य शुक्ल के बारे में कई महत्वपूर्ण तथ्यों को उजागर किया, अपनी शोध-वृत्ति का परिचय देते हुए। इसके अतिरिक्त भी अंक की योजना बड़े विवेक से बनाई गई है। सामग्री में विविधता है, पठनीयता है। जरूरी नहीं कि सारी प्रकाशित सामग्री से सबकी सहमति हो, पर यदि वह विचारों के लिए प्रेरणा-स्रोत का काम कर सके, तो उसकी सार्थकता के लिए कोई और प्रमाण अपेक्षित नहीं।

–निर्मला जैन, गुड़गांव (हरियाणा)

इस अंक को देखकर लगा कि पत्रिका पर आपके व्यक्तित्व की छाप स्पष्ट है। अब 'पुस्तक-वार्ता' केवल पुस्तक-समीक्षा की पत्रिका नहीं रह गई है। पुस्तक-समीक्षा के साथ-साथ इसमें आपने और भी महत्वपूर्ण आयाम जोड़ दिए हैं। आपकी खोजी प्रकृति और प्रवृत्ति का सुखद परिणाम इस अंक में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पर दी गई विशेष सामग्री है। शुक्ल जी अद्भुत प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। उनका 'हिंदी साहित्य का इतिहास' आज भी अनुपम है।

–हरदयाल, दिल्ली

'पुस्तक-वार्ता' का सितम्बर-अक्तूबर 2009 अंक देखने को मिला। अभिभूत हुआ। हर पहलू को छूती, उसकी मीमांसा, बहुआयामों को एक ही अंक में संचित करती, निश्चित रूप से यह बेजोड़ पत्रिका है। कामना करता हूँ, आपके कुशल संपादन में यह साहित्य इतिहास में अपना नाम बनाए।

हरदर्शन सहगल, बीकानेर

'पुस्तक वार्ता'-24 (सितंबर-अक्तूबर 2009) आद्यंत पढ़ा। 'हिंदी आलोचना के हिमालय–आचार्य रामचंद्र शुक्ल' में आपने आचार्य शुक्ल से संबंधित अनेक तथ्यों को सामने रखा है, जिससे उन्हें गंभीरतापूर्वक पढ़ने की प्रेरणा अनेक लोग प्राप्त कर सकेंगे। शुक्लजी की स्व. चंद्रशेखर शुक्ल प्रणीत जीवनी की समीक्षा पुस्तक पढ़ने हेतु कुरेदती है।

'आलोचना की सामाजिकता' पर रविभूषण जी के विचार अपने ढंग के हैं। अनेक लेख देख चुका था–पहले ही। पुस्तक भी प्रकाशित होते ही खरीद ली थी। दृष्टिकोण की सफाई सर्वत्र झलकती है। पूरे अंक में धरोहर संजोकर आप पाठकों के बीच परोसने का काम करने में पूरी तरह सफल हुए हैं।

डॉ. नरेन्द्र झा, रांची

'पुस्तक-वार्ता'-24 में नियमित स्तम्भों एवं समीक्षाओं के अलावा 'विरासत' में प्रेमचंद विषयक सामग्री की पुनः प्रस्तुति अत्यन्त महत्वपूर्ण है। समीक्षाओं में सर्वथा पहली समीक्षा 'उधर के लोग' (शम्भु गुप्त) विचित्र लगी। इस उपन्यास की शम्भु गुप्त ने 'दलित आत्मकथा लेखन का एक नया द्वार' शीर्षक के साथ पहले तो जता दिया कि दलित आत्मकथाओं का नया प्रवेशक है, 'उधर के लोग'। फिर लेखक-प्रकाशक ब्लर्ब पर छपी सतरों का उल्लेख करते हुए उपन्यास-आत्मकथाओं से क्या समझा जए, इस द्विविधा का मुद्दा उठा दिया है और समीक्षा की है उपन्यास के रूप में! यह समीक्षावृत्ति पाठक को संशयग्रस्त करके पुस्तक से ही नहीं, पठनीयता से भी बिदकने वाली है। वे एक ओर इस समीक्षा में दलित आत्मकथा लेखन की ऐसी-तैसी भी करते हैं और दूसरी ओर इन आत्मकथाओं के प्रति अपना अनादर कतई नहीं व्यक्त कर रहा हूं, भी शुरू में ही कह करके सुरक्षात्मकता का भी पक्का इंतजाम कर लेते हैं। तब सीधे पूछना लजिमी हो जाता है, समीक्षक-प्रवर, आपकी पॉलिटिक्स क्या है? आत्मकथा लेखन को लेकर दलित लेखकों–बीच होते कौवा रोरव आपकी फजीहत की प्रासंगिकता अन्ततः क्या थी भला इस समीक्षा में?

बन्धु कुशावर्ती, लखनऊ

'पुस्तक-वार्ता' का सितम्बर-अक्तूबर 2009 अंक पटना में मिल गया। आपके जुड़ने के साथ ही 'पुस्तक-वार्ता' में जो परिवर्त्त दिखने लगे है, वह अब इस पत्रिका के प्रति एक आत्मीय लगाव का कारण बन गए हैं। पुस्तकों के समीक्षात्मक परिचय मात्र तक ही आलेखों को सीमित न रखकर, आपने विविध विधाओं की एक संतुलित और सम्यक् पड़ताल से पत्रिका को जोड़कर इसे व्यापक पठनीयता का आधार प्रदान कर दिया है।

हिंदी आलोचना के शलाका-पुरुष आ. रामचन्द्र शुक्ल पर आपका 'सम्पादकीय' बेहद ज्ञानवर्द्धक है, साथ ही 'विरासत' खंड में भी आचार्य शुक्ल पर प्रस्तुत सामग्रियां आपके संपादकीय विवेक और कौशल को उदाहृत करती हैं।

स्व. मोती बी. ए. से जुड़ा इकबाल रिजवी साहब का संस्मरण छापकर, आपने हिंदी पट्टी के लोकविश्रुत साहित्यकारों की ओर भी अपनी नजर दौड़ानी शुरू कर दी है, जो आपकी स्वस्थ और सदाशयी दृष्टि का परिचायक है। यह संस्मरण बहुत मार्मिक और मोती बी.ए. जी का जानने-समझने वालों के लिए अत्यन्त उपयोगी और सुखद है।

जीतेन्द्र वर्मा, पटना

आपसे फोन पर बात हुई थी। रेखा यादव द्वारा 'अन्तर्यात्रा' की समीक्षा में आपने जिस तरह अंतिम पंक्तियां जोड़कर पुस्तक को नकारने की कोशिश की है, यह कृत (?) न तो प्रोफैशनल और न ही नैतिक दृष्टि से सही है। इसकी मूल प्रति मेरे पास है।

रेखा म.गां.विश्वविद्यालय की छात्रा है। उसे अपने कैरियर की चिंता है। होनी ही चाहिए। लेकिन वह इस बात को लेकर दुःखी थी, उसने मुझे फोन किया था। मैं जो कुछ भी हूं, जहां भी हूं, अपने बलबूते पर हूं। आपके गिराने उठाने से क्या होगा? सिर्फ इतना आपको सोचना था कि अगर आपको मेरे विरुद्ध कुछ कहीं था भी, तो आप समीक्षा लिखते। या उसे छापते ही नहीं।

पुस्तक की समीक्षा आपने अपनी मर्जी से प्रकाशित की, जिसकी चाही प्रकाशित की। अगर मेरे कहने से होती तो क्या ऐसा होता? सोचिए तो।

ऐसी छोटी बातें विश्वविद्यालय की पत्रिका के संपादक को शोभा नहीं देती। बस!

कमल कुमार, नई दिल्ली

(कमल कुमार ने फोन करके मुझसे अपने नए कहानी संग्रह 'अन्तर्यात्रा' की रिव्यू छापने का आग्रह किया था। मैंने पुस्तक भिजवाने के लिए कहा। तीसरे दिन मुझे उनकी पुस्तक मिली। और हैरानी की बात यह है कि चौथे दिन म.गा.अ.हि.वि., वर्धा की शोध छात्रा रेखा एस. यादव द्वारा लिखित उनकी पुस्तक समीक्षा पर। यह जानते हुए भी कि यह प्रायोजित समीक्षा है, मैंने इसे पुस्तक-वार्ता के सितम्बर-अक्तूबर '09 में प्रकाशित की, क्योंकि यह समीक्षा आलोचनात्मक थी। समीक्षा छपने के बाद रेखा ने फोन पर मेरे प्रति कृतज्ञता ज्ञापित की। लेकिन कमल जी बिफर गईं। चौंकाने वाली बात यह है कि यदि कमल कुमार ने यह समीक्षा प्रायोजित नहीं की तो समीक्षा की प्रति उन्हें कैसे मिली? दूसरी बात पर भी गौर करने की जरूरत है कि क्या संपादक को रचना-समीक्षा में काट-छांट करने का नैतिक अधिकार नहीं होता है? बहरहाल उनके कहानी संग्रह की समीक्षा जिस रूप में और जिस तरह छपी है, समीक्षकीय तेवर में है। मैंने उनसे निवेदन किया था कि यदि उनकी पुस्तक की समीक्षा में कहीं पूर्वग्रहपूर्ण संशोधन किया गया है तो वे रेखा से मुझे विरोध पत्र भिजवाएं। लेकिन वे टाल गईं। यदि वे मुझे चलताऊ संपादक समझती हैं तो मुझे इसका गहरा दुख है। **–संपादक**)

निवेदन

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय ने हिंदी साहित्य को इंटरनेट पर उपलब्ध करवाने हेतु एक महत्वपूर्ण योजना पर कार्य प्रारम्भ किया है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग समर्थित इस परियोजना के प्रथम चरण में भारतेन्दु युग से लेकर 1950 तक के कॉपीराइटमुक्त हिंदी साहित्य के चुनिन्दा एक लाख पृष्ठ **'हिंदीसमयडॉटकॉम'** नामक वेबसाइट में उपलब्ध करवाए जाएँगे। हिंदी साहित्य की सभी विधाओं से महत्वपूर्ण सामग्री का चयन, सम्पादन और प्रस्तुतीकरण इस प्रकल्प के अन्तर्गत किया जाएगा।

इस परियोजना के तहत **'हिंदीसमयडॉटकॉम'** पर सर्वप्रथम उन लेखकों की रचनाओं को प्रस्तुत किया जाएगा जिनका कॉपीराइट खत्म हो गया है। तत्पश्चात्, लेखकों व प्रकाशकों की सहमति/अनुमति से अन्य उत्कृष्ट रचनाओं को इस वेबसाइट में शामिल किया जाएगा। **'हिंदीसमयडॉटकॉम'** में मगांअंहिवि द्वारा प्रकाशित सामग्री, यथा, संचयिता, छवि-संग्रह आदि को भी उपलब्ध करवाया जाएगा।

'हिंदीसमयडॉटकॉम' इंटरनेट पर हिंदी साहित्य के प्रलेखन और ग्लोबल उपलब्धता का प्रतिनिधि जालघर होगा जिसमें भारतेन्दु के नाटक, रामचंद्र शुक्ल के निबंध, प्रेमचंद के उपन्यास और जयशंकर प्रसाद की कविताएँ अपनी समग्रता में, 'डायस्पोरा' सहित, दुनियाभर में फैले हिंदी पाठकों को उपलब्ध होंगी। अंग्रेजी में क्लासिक **रीडरडॉटकॉम** (www.classicreader.com) और **गुटेनबर्गडॉटऑर्ग** (www.gutenberg.org) जैसे जालघर अंग्रेजी के नामचीन लेखकों के साहित्य को इसी तरह घर बैठे उपलब्ध करवाते हैं।

इस अनूठी वेबसाइट की सामग्री का चयन एवं संग्रहण हिंदी लेखकों-पाठकों-प्रकाशकों-संपादकों-प्राध्यापकों-शोधार्थियों के साथ गहन सम्पर्क और अंतर्क्रिया से ही सम्भव है। अतः हिंदी साहित्य से जुड़ाव रखनेवाले सभी सहृदय सामाजिकों से अनुरोध है कि इस परियोजना को समावेशी और बेहतर स्वरूप प्रदान करने के लिए अपने उपयोगी सुझाव तो दें ही, सामग्री-संग्रहण और प्रस्तुतीकरण के कार्य में भी सहयोगी हाथ बढ़ाएँ। परियोजना हेतु देश के विभिन्न स्थानों/केन्द्रों में मानदेय के आधार पर स्थानीय कार्यकर्ताओं के चयन का कार्य भी शीघ्र प्रारम्भ किया जाएगा।